जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों मे प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंवन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते मे हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र मे अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहियें।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल एल बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए, डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए.एस.

पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

श्रवणबेलगोल के मस्तकाभिषेक की स्मृति में

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ फाल्गुन किरण ४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
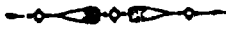
जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

मे ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

विषय-सूची

श्रीबाहुबलीस्वामी

(श्रीयुत अयोध्या प्रसाद गोयलीय के सौजन्य से प्र

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | मार्च १९४०। फाल्गुन वीर नि० सं० २४६६ | किरण ४

जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एलएल० बी०]

समस्त दक्षिण भारत में ऐसे बहुत ही कम स्थान होंगे जो प्राकृतिक सौन्दर्य में, प्राचीन कारीगरी के नमूनों में व धार्मिक और ऐतिहासिक स्मृतियों में 'श्रवणबेलगोल' की बराबरी कर सके। आर्य जाति और विशेषतः जैन जाति की लगभग ढाई हजार वर्ष की सभ्यता का इतिहास यहां के विशाल और रमणीक मन्दिरों में, अत्यन्त प्राचीन गुफाओं, अनुपम उत्कृष्ट मूर्तियों व सैकड़ों शिलालेखों में अंकित पाया जाता है। यहां की भूमि अनेक मुनि-महात्माओं की तपस्या से पवित्र, अगणित धर्मनिष्ठ यात्रियों का भक्ति से पूजित और बहुत से नरेशों व सम्राटों के दान से अलंकृत और इतिहास में प्रसिद्ध हुई है।

यहां की धार्मिकता इस स्थान के नाम में ही गर्भित है। श्रवण (श्रमण) नाम जैन मुनि का है और बेलगोल् कन्नड भाषा के 'बेल्' और 'गोल' इन दो शब्दों से बना है जिनका अर्थ क्रमशः धवल और सरोवर होता है। इस प्रकार श्रवण-बेलगोल का अर्थ 'जैन मुनियों का धवल सरोवर' होता है जिसका तात्पर्य संभवतः उस रमणीक सरोवर से है जो ग्राम के बीचो-बीच अब भी इस स्थान की शोभा बढ़ा रहा है। जैनियों का प्राचीनतम केन्द्र होने से इस स्थान की प्रसिद्धि जैनबिद्री नाम से भी है।

श्रवणबेलगोल ग्राम मैसूर प्रान्त में हासन जिले के चेन्नरायपट्टण तालुक में दो सुन्दर पहाड़ियों के बीच बसा हुआ है। इनमें से बड़ी पहाड़ी (दोड्डबेट्ट) ग्राम से दक्षिण की ओर है और विन्ध्यगिरि कहलाती है। छोटी पहाड़ी (चिक्कबेट्ट) ग्राम से उत्तर की ओर है और चन्द्रगिरि नाम से प्रख्यात है। विन्ध्यगिरि समुद्रतल से ३,३४७ फुट और नीचे के

मैदान से लगभग ४७० फुट ऊँचा है। कभी-कभी इन्द्रगिरि नाम से भी इस पर्वत का सम्बोधन किया जाता हैं। पवत के शिखर पर पहुंचने के लिये नीचे से कोई ५०० सीढ़ियां बनी हुई हैं। ऊपर समतल चौक है जिसके चारो-ओर एक छोटा सा घेरा है। इस घेरे मे बीच-बोच मे तलघर हैं जिनमे जैन मूर्तियां विराजमान हैं। इस घेरे के चारो ओर कुछ दूरी पर एक भारी दीवाल है जो कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाओं से बनी हुई है। चौक के ठीक बीचोबीच गोम्मटेश्वर की वह विशाल खड्गासन मूर्ति है जो अपनी दिव्यता से उस समस्त भूभाग को अलंकृत और पवित्र कर रही है। यह नग्न, उत्तरमुख खड्गासनमूर्ति समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तुओं मे से है। सिर के वाल घुंघराले, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहु नीचे को लटकते हुए और कटि किंचित् क्षीण है। घुटनो से कुछ ऊपर तक वमीठे दिखाये गये हैं जिनसे सर्प निकल रहे है। दोनों पैरों और वाहुओं से माधवी लता लिपट रहा है। मुख पर अपूर्व कान्ति, अगाध शान्ति और अटल ध्यानमुद्रा विराजमान है। मूर्ति क्या है मानों तपस्या का अवतार ही है। दृश्य वड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। सिंहासन एक प्रफुल्ल कमल के आकार का है। इस कमल पर वायें चरण के नीचे तीन फुट चार इञ्च का माप खुदा हुआ है जिसको कहा जाता है, अठारह से गुणित करने पर मूर्ति की ऊँचाई निकलती है। जो माप लिये गये है उनसे मूर्ति की ऊँचाई कोई ५७ फुट पाई गई है। निस्सन्देह मूर्तिकार ने अपने इस अनुपम प्रयास मे अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एशिया-खंड ही नही समस्त भूतल का विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वर की तुलना करनेवाली मूर्ति आपको शायद ही कही दृष्टिगोचर होगी। रामसेस या अवू सिम्वल की अत्यन्त प्राचीन मूर्तियां मानो इसी दिव्य मूर्ति के सामने लज्जित होकर धराशायी हो गयी हैं। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानों के मास्तिष्क इस मूर्ति की कारीगरी पर चक्कर खा गये है। इतने भारी और प्रबल पाषाण पर सिद्धहस्त कारीगर ने जिस कौशल से अपनी छैनी चलाई है उससे भारत के मूर्तिकारों का मस्तक सदैव गर्व से ऊँचा उठा रहेगा। कोई एक हजार वर्प से यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृति देवी की अमोघ शक्तियों से टक्कर ले रही है, पर अब तक उसमे कोई भारी क्षति नहीं हुई। मानो मूर्तिकार ने उसे आज ही उद्घाटित किया हो।

गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी यह अनुपम मूर्ति किस भाग्यवान् ने निर्माण कराई इसका विवरण श्रवणवेल्गोल के शिलालेख व भुजवलि-शतक, भुजबलि-चरित, गोम्मटेश्वर चरित, राजावलिकथा व स्थलपुराण नामक ग्रन्थों मे पाया जाता है। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दो पुत्र थे भरत और वाहुवली। भरत चक्रवर्ती राजा हुए और बाहुवली ने तपोरूपी साम्राज्य स्वीकार करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। कहा जाता है भरतजी ने उनकी ५२५ धनुषप्रमाण मूर्ति स्थापित कराई थी। उसी का प्रशंसा सुन कर गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री

चामुण्डराय ने शक संवत् ९५१ के लगभग इस भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई जो गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सैकड़ों वर्ष पश्चात् दक्षिण में गोम्मटेश्वर की और विशालकाय मूर्तियां निर्माण हुईं। एक कारकल में सन् १४३२ में ४१½ फुट ऊँची और दूसरी वेणूर में सन् १६०४ ईस्वी में ३५ फुट ऊची। श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के उल्लेख शक संवत् १३२० से लगाकर आधुनिक काल तक के मिलते हैं।

विन्ध्यगिरि पर अन्य दर्शनीय स्थान हैं सिद्धरबस्ति, अखण्ड बागिलु, सिद्धरगुण्डु, गुल्ल कायज्जि बागिलु, त्यागद ब्रह्मदेवस्तम्भ, चेन्नण्ण बस्ति, ओदेगल बस्ति, चौबीस तीर्थङ्कर बस्ति और ब्रह्मदेव मन्दिर।

चन्द्रगिरि (चिक्कबेट्ट) पर्वत की ऊँचाई समुद्रतल से ३,०५२ फुट है। प्राचीनतम लेखों में इसका नाम कटवप्र (संस्कृत) व कल्वप्पु (कन्नड) पाया जाता है। तीर्थगिरि और ऋषिगिरि नाम से भी इस पर्वत की प्रसिद्धि रही है। यहां १४ मन्दिर (बस्ति) है—पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरडुकट्टे, सवतिगंधवारण, तेरिन, शान्तीश्वर और इरुवे ब्रह्मदेव। इनमें से प्रथम १३ एक ही घेरे के भीतर है, केवल अन्तिम मन्दिर उससे बाहर हैं। यहां के अन्य दर्शनीय स्थान हैं—कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ, महानवमी मण्डप, भरतेश्वर मूर्ति, कञ्चिनदोणे कुंड, लक्किदोणे कुंड, भद्रबाहु की गुफा और चामुण्डराय की शिला।

विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि के बीच बसे हुए नगर के मन्दिर इस प्रकार हैं—भण्डारि बस्ति, अक्कन बस्ति, सिद्धान्त बस्ति, दानशाले बस्ति, नगर जिनालय, मंगायि बस्ति, और जैनमठ। कहा जाता है कि पूर्वकाल में धवल, जयधवल आदि सिद्धान्तग्रन्थ यहीं रखे जाने के कारण पूर्वोक्त बस्ति का नाम सिद्धान्त बस्ति पड़ा तथा पीछे यहीं से वे ग्रन्थ मूड़बिद्री गये। इन मन्दिरों के अतिरिक्त नगर मे दर्शनीय स्थान इस प्रकार है—कल्याणि सरोवर, जक्किकट्टे सरोवर और चेन्नण्ण कुंड।

श्रवणबेलगोल का सब से बड़ा ऐतिहासिक माहात्म्य वहां के शिलालेखों मे है। यहां कोई ५०० शिलालेख चट्टानों, स्तम्भों व मूतियों पर खुदे हुए पाये गये है, जिनमे जैन इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक राजाओं और आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है। इनमें सबसे प्राचीन शिलालेख वह है जिसमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की भविष्यवाणी तथा मुनिसंघ के उत्तरापथ से दक्षिणापथ की यात्रा का उल्लेख है। इसी लेख मे जो प्रभाचन्द्राचाय का उल्लेख है उससे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का तात्पर्य समझा जाता है जो अनेक साहित्यिक उल्लेखों के अनुसार भद्रबाहु से दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गये थे और जिन्होंने यहीं चन्द्रगिरि पर तपस्या करके समाधिमरण किया। इसी कारण इस पर्वत का नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इस पर्वत पर भद्रबाहु नाम की गुफा भी है और उसमें चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न बतलाये जाते हैं

और कहा जाता है कि यहीं चन्द्रगुप्त ने समाधिमरण किया था। अनेक शिलालेखों मे भी भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मुनि का उल्लेख आया है। साहित्य मे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कथा को सविस्तर रूप से वर्णन करनेवाले ग्रन्थ हरिषेणकृत वृहत्कथाकोष, रत्ननन्दिकृत भद्रबाहु-चरित, चिदानन्दकृत मुनिवंशाभ्युदय और देवचन्दकृत राजावलिकथे है। पश्चिमी विद्वानो मे ल्यूमन, हानले, टामस व राइस साहब ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मी होने की बात स्वीकार की है। स्मिथ साहब पहले इस मत के विरुद्ध थे, किन्तु अन्त मे उन्हे भी कहना पड़ा कि "चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इस पर ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओ से ही पड़ता है। जैनियो ने सदैव उक्त सम्राट् को बिम्बसार (श्रेणिक) के समान जैन धर्मावलम्बी माना हैं और उनके इस विश्वास को झूठ कहने के लिये कोई उपयुक्त कारण नही है।" जायसवाल महोदय लिखते हैं कि "प्राचीन जैन ग्रन्थ और शिलालेख चन्द्रगुप्त को जैनराजर्षि प्रमाणित करते है। मेरे अध्ययन ने मुझे जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक वार्ताओं का आदर करने को बाध्य किया है। कोई कारण नही है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के अन्तिम भाग मे राज्य को त्याग जिनदीक्षा ले मुनिवृत्ति से मरण को प्राप्त हुए, न मानें" इत्यादि। इस प्रकार अधिकांश विद्वानो का झुकाव अब चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की कथा के मूल अंश को स्वीकार करने की ओर है।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का दक्षिण भारत और जैनधर्म के इतिहास पर बडा भारी प्रभाव पड़ा। जैन मुनियो ने सर्वत्र विहार कर के जैनधर्म का खूब प्रचार किया। राजनीति और साहित्य दोनो पर इस प्रचार का भारी प्रभाव पड़ा। क्रमशः गंग, कदम्ब, रट्ट, पल्लव, सन्तार, चालुक्य, राष्ट्रकूट और कलचूरि राजवंशो मे जैनधर्म की मान्यता के प्रचुर प्रमाण उपलभ्य है। धवल सिद्धान्त के मूलाधार ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना बनवास और तामिल देश मे विक्रम की दूसरी शताब्दि मे हुई थी। अनेक सर्वोपरि प्रमाण जैन ग्रन्थों के रचयिता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी भूभाग को अलंकृत किया था। समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र आदि दिगम्बर-समाज के प्रमुख आचार्यों की रचनाओं का इसी प्रदेश मे अवतार हुआ था। तामिल भाषा के साहित्य को परिपुष्ट करने तथा कन्नड भाषा मे साहित्य उत्पन्न करने का श्रेय जैन आचार्यों को ही है।

श्रवणबेल्गोल इन सब सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का केन्द्र था। धर्म की इसी विपुल और विशाल उन्नति को ही मानो मन्त्रिराज चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की स्थापना-द्वारा मूर्तिमान् स्वरूप दे दिया है जिससे यहां चिरकाल तक धर्म प्रभावना होती रहे और यावच्चन्द्र-दिवाकरम् जैनधर्म की जयजयकार बोली जावे।

श्रवणबेल्गोल एवं यहाँ की श्रीगोम्मट-मूर्ति

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण]

श्रीमान्नाभेयजातः प्रथममनसिजो नाभिराजस्य नप्ता
देहं संसारभोगं तृणमिव मुमुचे भारते संगरे यः ।
कायोत्सर्गं वितन्वन् महदुरगलसद्गर्भवल्मीकजुष्टम्
सोऽयं विन्ध्याचलेशो स जयतु सुचिरं गोम्मटेशो जिनेशः ॥

यों तो दक्षिण भारत मे कोपण (कोप्पल) आदि जैनियों के और भी कई स्थान ऐसे हैं, जो कि ऐतिहासिक, धार्मिक एवं कलाकौशलआदि की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी इन सबों में श्रवणबेलगोल को प्रथम स्थान दिया जाना सर्वथा समुचित ही है। यहाँ के विशाल और चित्ताकर्षक देवालयों, अतिप्राचीन गुफाओं, अनुपम मनोज्ञ मूर्तियों तथा सैकड़ों शिलालेखों मे आर्यजाति और विशेषतया जैनजाति की लगभग पचीस सौ वर्ष की सभ्यता का जीता-जागता इतिवृत्त सुरक्षित है। यहाँ का भू-भाग अनेक प्रातःस्मरणीय मुनि-अर्जिकाओं को दिव्य तपस्या से पुनीत, बहुत से धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के समाधि-मरण से पवित्र, असंख्य श्रद्धालु यात्रियों के भक्तिगान से मुखरित और अनेक नरेशों एवं सम्राटों की वदान्यता से विभूषित है। यहाँ की धार्मिकता इस क्षेत्र के नाम में ही छिपी हुई है। क्योंकि श्रवण (श्रमण) बेलगोल इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जैनमुनियों का श्वेतसरोवर होता है। सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन शिलालेखों मे भी इस स्थान के नाम श्वेतसरोवर, धवलसरोवर तथा धवलसर पाये जाते हैं। हाँ, गोम्मट-मूर्ति के कारण इसका नाम गोम्मट-पुर भी है।

श्रवणबेलगोल यह ग्राम मैसूर राज्य मे हासन जिला में चेन्नराय पट्टण तालुक मे दो सुन्दर पर्वतों के बीच बसा हुआ है। इनमे बड़ा पर्वत (दोड्डबेट्ट) जो ग्राम से दक्षिण की ओर है 'विन्ध्यगिरि' कहलाता है। इस पर गोम्मटेश्वर की वह विशाल लोकविश्रुत मूर्ति स्थापित है जो मीलों की दूरी से दर्शकों की दृष्टि इस पवित्र तीर्थ की ओर आकृष्ट करती रहती है। इस मूर्ति के अतिरिक्त पर्वत पर कुछ जैन मन्दिर भी विद्यमान है। दूसरा छोटा पर्वत (चिक्कबेट्ट) जो ग्राम से उत्तर की ओर हैं 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अधिकांश एवं प्राचीनतम लेख और मन्दिर इसी पर्वत पर हैं। कुछ मन्दिर, लेख आदि ग्राम की सीमा के भीतर है और शेष इसके आसपास के ग्रामों मे।

इस बात को मैं भी मानता हूं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा के पूर्व भी दक्षिण भारत मे जैनधर्म मौजूद था। अन्यथा श्रुतकेवली जी को इतने विशाल जैनसंघ को यहाँ पर ले जाने का साहस नहीं होता। इस बात की पुष्टि सिहलीय 'महावंश' नामक सुप्राचीन बौद्धग्रन्थ से भी होती है। परन्तु उस समय का इतिहास अभी अन्धकार मे छिपा हुआ हैं। इसलिये एक प्रकार से दक्षिण भारत के जैनइतिहास का सूत्रपात यहो से माना जाता हैं। बल्कि आज भी अधिकांश विद्वानों का खयाल है कि भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त की यात्रा के उपरान्त ही दक्षिण भारत मे जैनधर्म का प्रसार हुआ। इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त यात्रा के पश्चात् ही यहो पर जैनधर्म को सार्वभौम एवं सर्व-व्यापक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उत्तर भारत से गये हुए विद्वान् जैनमुनियों ने प्रत्येक प्रान्त मे जा-जाकर अपने धर्म, साहित्य एवं संस्कृति का इतना प्रचार किया कि अन्य धर्माव-लम्बियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। बाहर से जाकर उन प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं को जानकर उनमें सर्वोच्च प्राचीनतम साहित्य की सृष्टि कर उसी के द्वारा अपने धर्म का द्रुतगति से प्रचार करना कोई साधारण बात नहीं है।

जैनधर्म के उस सुवर्ण-युग मे प्रचुर संख्या मे हिन्दूधर्म के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे उच्चवर्णों के लोग सहर्ष जैन धर्म मे दीक्षित हुए। यह दीक्षा-द्वार दीर्घकाल तक उन्मुक्त रहा। यहाँ के अनेक जैनपरिवारों मे अबतक इन्ही अपने प्राचीन भारद्वाज, आत्रेय, गर्ग आदि हिन्दुत्व-सूचक गोत्रसूत्रादि का प्रचलन ही इस बात के लिये एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इतना ही नहो समन्तभद्र जैसे जैनधर्म के स्तम्भस्वरूप सुप्राचीन आचार्यों ने जिन कतिपय क्रियाओं को लोकमूढ, देवमूढ आदि विशेषणों से पूर्व मे घोषित किया था ऐसी कई क्रियायें—जो जैनमूल-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं—इन्हीं नवदीक्षित हिन्दुओं से जैनधर्म मे प्रविष्ट हुईं। बल्कि लगभग ७ वीं—८ वी शताब्दी से कुछ ऐसी क्रियायें जैनकर्मकाण्ड आदि ग्रंथो मे भी स्थान पा गयीं। ये सब बातें सर्वप्रथम भगवज्जिनसेनाचार्य-कृत महापुराण मे ही हमे दृष्टिगोचर होती हैं। इसके लिये कतिपय श्रद्धेय आचार्यों को दोषी ठहराना एकान्त भूल है। क्योंकि वह ऐसा ही एक जमाना था कि आपद्धर्म-रूप में इन चीजों को यदि वे नही अपनाते तो दक्षिण-भारत मे जैनधर्म का सार्वत्रिक प्रचार एव रक्षा असाध्य सी हो जाती। क्योकि इस समय शंकराचार्य, मध्वाचार्य आदि हिन्दू-धर्माचार्य जैनधर्म के विरुद्ध खुले आम हो गये थे और पूर्वोक्त आचरणों के अभाव में जैनियों को नास्तिक कहते हुए जनता को भड़का कर उलटा लाभ उठाना चाहते थे। इससे जैनधर्म के प्रचार में ही रोड़ा नहीं अटका, बल्कि जिस प्रबल राजाश्रय के द्वारा दक्षिण मे जैनधर्म फल-फूल रहा था उससे भी इसे हाथ धोने का मौका आ गया था। ऐसी दशा मे कुछ नूतन आचार-विचारों का अपने धर्मग्रंथों मे प्रश्रय देकर हमारे

पूर्वजों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। यों तो कोई भी धर्म देशकालादि के वायुमण्डल से बचकर यथावत् विशुद्ध नहीं रह सका है। प्रत्येक धर्म मे दूसरे धर्म की कुछ न कुछ छाप है अवश्य। हिन्दूधर्म पर भी अहिंसाधर्म का प्रभाव आदि जैनधर्म की देन लोकमान्य तिलक जैसे प्रगाढ़ हिन्दू विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। अपने सम्यक्त्व को किसी प्रकार से दूषित नहीं करने वाले आचरणों को अपनाना अनुचित नहीं है* यों घोषित करते हुए आचार्यों ने उक्त क्रियाओं को अपने सिद्धान्तानुकूल बनाने की काफी चेष्टा की है और उसमे सफल भी हुए है। खैर, मै पाठकों को विषयान्तर में ले जाना नहीं चाहता।

यद्यपि श्रवणबेलगोल के लेखों का मूल प्रयोजन धार्मिक है, फिर भी ये इतिहास-निर्माण के लिये भी कम महत्त्व की चीज नहीं है। यहाँ के संगृहीत लेखों मे लग-भग एक सौ लेख मुनियों, अर्जिकाओं, श्रावक एवं श्राविकाओं के समाधिमरण के स्मारक हैं; लगभग एक सौ मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशिला, वाचनालय. मन्दिरों के दरवाजे, परकोट, सीढ़ियाँ, रंगशालायें, तालाब, कुण्ड, उद्यान एवं जीर्णोद्धारादि कार्यों के यादगार है; अन्य एक सौ के लग-भग मन्दिरों के खर्च, जीर्णोद्धार, पूजा, अभिषेक और आहारदान आदि के लिये ग्राम, भूमि तथा रकम के दान के स्मृति-रूप मे हैं; लगभग एक सौ साठ संघों और यात्रियों की तीर्थयात्रा के स्मरण-चिह्न है; शेष चालीस लेख ऐसे हैं जो या तो किसी आचार्य, श्रावक या योद्धा के प्रशंसा-परक हैं। इसी से पाठक समझ सकते हैं कि इतिहास और इन लेखों मे कितना निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। बल्कि जैनइतिहास की अनेक जटिल गुत्थियाँ यहीं के लेखों से सुलझ पायी हैं। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल, विजयनगर, मैसूर, कदम्ब, नोलम्ब, पल्लव, चोल, कोंगाल्व, चंगाल्व आदि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे राज-वंश से श्रवणबेलगोल का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। इन सम्बन्धों का विस्तृत विवरण यहाँ के अन्यान्य लेखों में स्पष्ट अंकित है। इसी प्रकार श्रवण-बेलगोल के लेखों में उत्कीर्ण आचार्य-परम्परा भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें भिन्न-भिन्न संघ के अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य आ गये हैं। यह है भी स्वाभाविक। क्योंकि भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त (अन्य), नेमिचन्द्र, वादीभसिंह आदि दिगम्बर-सम्प्रदाय के जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हुए हैं, वे सब प्राय कर्णाटक या तमिलुदेश के निवासी थे। बल्कि अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी की द्वादशाङ्गवाणी का अवशिष्टरूप, धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का मूलाधार षट्खण्डागम की रचना भी विक्रमीय द्वितीय शताब्दी में बनवासि (कर्णाटक)

* "सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम्॥" (आचार्य सोमदेव)

एवं तमिलु देश मे हुई थी। खासकर दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य-भाण्डागार को भरने का सुयश दाक्षिणात्य दिगम्बराचार्यों को ही प्राप्त है। उस जमाने मे सबों का केन्द्र यही श्रवण-वेलगोल रहा है।

अब उपर्युक्त विन्ध्यगिरि मे विराजमान श्रीगोम्मट या गोम्मटेश्वर-प्रतिमा को लीजिये। यह दिगम्बर, उत्तराभिमुख, खड्गासन मूर्ति अखिल विश्व में एक कौतूहलोत्पादक वस्तु है। सिर के वाल घुंघराले, कान वड़े और लंबे, छाती चौड़ी, लम्बी बाहु नीचे को लटकती हुई और कमर कुछ पतली है। मुख पर अलौकिक कान्ति एवं शान्ति का साम्राज्य है। घुटनों से कुछ ऊपर तक भामियाँ दिखाई दे रही हैं, जिनसे सर्प निकलते दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों पैरो और वाहुओं से माधवीलता लिपटी हुई है।* फिर भी मुख पर ध्यान-मुद्रा की स्थिरता दर्शनीय है। प्रतिमा क्या है, मानो तपस्या का जीता-जागता एक अनूठा निदर्शन है। दृश्य वड़ा ही हृदयग्राही है। सचमुच शिल्पी ने अपने इस अपूर्व प्रयत्न मे अभूतपूर्व एवं आशातीत सफलता पायी है। वड़े-वड़े पाश्चात्य विद्वानों का मस्तिष्क भी इस मूर्त्ति-निर्माण-कला को देख कर चकरा गया है। स्थापत्य-कला के मर्मज्ञों का कहना है कि संसार मे मिश्र मूर्तिकला के लिये पथप्रदर्शक माना गया है; फिर भी इस मूर्ति की कला के सामने वह नतमस्तक है। इतने लम्बे-चौड़े और गुरुतर पाषाण पर सिद्धहस्त शिल्पी ने जिस नैपुण्य से अपनी छेनी चलाई है, उससे भारतीय मूर्तिकारों का मस्तक हमेशः गर्व से ऊँचा रहेगा। वास्तव में यह जैनियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत समस्त आर्यजाति के लिये एक अपूर्व गौरव की वस्तु है। वल्कि जिस मैसूर राज्य मे यह अनुपम मूर्ति विराजमान है उसके लिये एकमात्र अभिमान-कारक वहुमूल्य रत्न है।

५७ फुट की मूर्ति खोद निकालने योग्य पाषाण कहीं और जगह से लाकर इतने ऊँचे पर्वत पर प्रतिष्ठित किया गया होगा, यह सम्भवपरक नहीं ज्ञात होता। वल्कि यह अनुमान करना सर्वथा समुचित जान पड़ता है कि इसी पहाड़ पर प्रकृति-प्रदत्त स्तम्भाकार चट्टान को काट कर ही यह मूर्ति वनायी गयी है। मगर सोचिये, सीधे खड़े एक कठिनतम वृहदाकार चट्टान को चारो ओर से काटते हुए इसी खड़ी दशा मे शास्त्रोक्त प्रमाण से नाप-जोख कर

*—स शमितव्रतो नाग्वान् वनवल्लीततान्तिकः।
वल्मीकरन्ध्रनिस्सर्पत्सर्पैरासीद्भयानकः ॥१०७॥
दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः।
सोऽन्वगाद्गूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०९॥
माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया।
शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहासया ॥११०॥ —(आदिपुराण, पर्व ३६)

इतनी सुन्दर विशालकाय प्रतिमा का निर्माण करना बड़े ही साहस का काम है। इस कठिनाई का अनुभव केवल एक भुक्तभोगी कुशल मूर्त्ति-निर्माता ही कर सकता है—सब कोई नहीं। आरा मे अभी थोड़े ही रोज हुए इन्हीं गोम्मटेश्वर की लगभग १५ फुट की श्वेत-शिला की मूर्ति जो जयपुर से बन कर आई है, इसी की कठिनाई का इतिहास सुन कर बहुत से पाठक आश्चर्यित हुए विना नही रहेगे। श्रवणबेल्गोल की यह मूर्ति लगभग एक हजार वर्ष से धूप, हवा और पानी आदि का सामना करती हुई अक्षुण्ण रह मालूम पड़ती है मानों अमर शिल्पी के द्वारा आज ही उत्कीर्ण की गयी है। इस मूर्ति के दोनों बाजुओं पर यक्ष और यक्षी की मूर्त्तियाँ है, जिनके एक हाथ मे चमर दूसरे मे कोई फल है। यह मूर्त्तियाँ भी कला की दृष्टि से वहुत ही सुन्दर है। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नव सुन्दर रचित छतों से सजा हुआ है। आठ छतों पर अष्टदिक्पालों की मूर्त्तियाँ हैं और नवी छत पर गोम्मटेश के अभिषेक के लिये हाथ मे कलश लिये हुए इन्द्र की मूर्त्ति। ये छतें बड़ी कारीगरी की वनी हुई है। गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति की निश्चित प्रतिष्ठा-तिथि के सम्वन्ध मे विद्वानों मे मत-भेद है। इसी किरण मे अन्यत्र प्रकाशित कुछ लेखों में कतिपय विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला भी है। सुहृद्वर श्रीयुत गोविन्द पै मंजेश्वर का मत है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा ईस्वी सन् ९७८ और ९८६ के बीच मे ९८१ के मार्च की १३ तारीख रविवार को हुई होगी।

अव विचार करना है कि गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी मूर्त्ति यहाँ किसके द्वारा, किस प्रकार प्रतिष्ठित की गयी। इसका कुछ विवरण लेख नं० ८५ (२३४) मे पाया जाता है। यह लेख एक छोटा सा सुन्दर कन्नड काव्य है जो सन् ११८० ई० के लगभग बोप्पण कवि के द्वारा रचा गया था। इसके वर्णनानुसार गोम्मट पुरुदेव अपर नाम ऋषभदेव[1] प्रथम तीर्थङ्कर के पुत्र थे। इनका नाम वाहुवली या भुजवली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुवली दोनों भ्राताओं मे साम्राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें बाहुवली की विजय हुई, पर संसार की वासना से विरक्त हो उन्होने साम्राज्य को अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को सौंप दिया और आप तपस्या करने वन मे चले गये। थोड़े ही काल मे घोर तपस्या के द्वारा उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। भरत ने, जो अव चक्रवर्त्ती हो गये थे, पोदनपुर[2] मे स्मृति-स्वरूप उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की एक

१—ऋषभदेव का वर्णन भागवतपुराण, पञ्चम स्कन्ध, अध्याय ३—७ में भी विस्तारपूर्वक मिलता है।

२—जैनपुराणों में पोदन, पौदन एव पौदन्य—बौद्धग्रन्थों में दक्षिणापथस्थ अश्मकदेश की राजधानी पोतन या पोतलि—भागवतपुराण में इक्ष्वाकुवशीय अश्मक की राजधानी पौदन्य नाम से विख्यात यह नगर मित्रवर श्रीयुत बा० कामताप्रसादजी के मत से विन्ध्य के उत्तरवर्त्ती तक्षशिला एव श्रीयुत सुहृद्वर गोविन्द

प्रतिमा स्थापित कराई। समयानुसार मूर्ति के आस-पास का प्रदेश कुक्कुटसर्पों[१] से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्त्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन केवल मुनियों को ही मन्त्र-शक्ति से प्राप्य हो गये। गंगनरेश राचमल्ल के मन्त्री चावुण्डराय ने इस मूर्त्ति का वर्णन सुना और उन्हे उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। पर पौदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्त्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्त्ति का निर्माण कराया। यही वर्णन थोडे-बहुत हेर-फेर के साथ भुजवलिशतक, भुजवलिचरित, गोम्मटेश्वरचरित, राजावलिकथे और स्थल-पुराण मे भी पाया जाता है। एक बात है, जिनसेन (ई० सन् ८३८) के आदिपुराण, पंप (ई० सन् ९४२) के कन्नड आदिपुराण, चावुण्डराय (ई० सन् ९७८) के चावुण्डरायपुराण, रत्नाकरसिद्ध (ई० सन् १५५७ लगभग) के भरतेश्वरवैभव आदि मे भी वाहुवलि-सम्वन्धी कथा मिलती है अवश्य; पर यहाँ भरतचक्रवर्ती की कथा के सामने इनकी कथा गौण हो गई है। इन सवो मे इनके वर्णन के विषय मे तो उपर्युक्त बोप्पण पण्डित का छोटा सा काव्य ही उल्लेखनीय है।

अव देखना है कि गोम्मट शव्द का क्या अर्थ है और श्रवणबेलगोल मे स्थापित बाहुबली की विशाल मूर्ति गोम्मट नाम से क्यों प्रख्यात हुई। कात्यायन की 'प्राकृतमञ्जरी' के "न्मो मः" (३।४२) इस सूत्र के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ' शब्द प्राकृत में 'गम्मह' हो जाता है। उधर कन्नड भापा मे संस्कृत का 'ग्रन्थि' शव्द 'गन्टि' और 'पथ' शव्द 'वट्ट' आदि मे परिवर्तित हो जाते हैं। अत एव संस्कृत के 'मन्मथ' शव्द का 'ह' उच्चारण जो उसे प्राकृतरूप मे नसीव होता है, वह कन्नड मे नही रहेगा। वल्कि वह 'ट' मे बदल जायगा। इस प्रकार संस्कृत 'मन्मथ' प्राकृत 'गम्मह' का कन्नड तद्भवरूप 'गम्मट' हो जायगा। और उसी 'गम्मट' का 'गोम्मट' रूप हो गया है। क्योंकि वोलचाल की कन्नड मे 'अ' स्वर का उच्चारण धीमे 'ओ' की ध्वनि मे होता है। जैसे—'मगु'='मोगु', 'सप्पु'='सोप्पु' इत्यादि। उधर कोंकणी और

पं० श्री राय मे वर्तमान निजाम-सरकार के निजामावाद जिलान्तर्गत बोधन-नामक एक छोटा सा ग्राम है। (देखें—क्रमश: जैन गुजिटस्वेरी, भाग ३, किरण ३ तथा 'कठीरव' के सन् १९३८ का दसहरा विशेपांक, पृ० ५२-५३)

अगर निजामराज्यान्तर्गत 'बोधन' ही प्राचीन पौदनपुर होता तो क्या आचार्य नेमिचन्द्र जैसे विद्वान् भी इतने निकटवर्ती स्थान से अपरिचित होते. क्योंकि इन्हों ने अपने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६८) में इस मूर्त्ति को 'दक्खिणकुक्कडजिणो' स्पष्ट लिखा है। अन्यान्य विद्वानों की कृतियों मे भी इसका समर्थन दृष्टिगोचर होता है। इससे मालूम होता है कि 'उत्तरकुक्कडजिन' भी कोई अवश्य थे। श्रीयुत गोविन्द पं० इसकी ओर अवश्य ध्यान दे।

१—कुक्कुटसर्प कैसे होते हैं इस बात को जानने के लिये कारकल के चतुर्मुख-वसदि (मन्दिर) की दीवाल मे उत्कीर्ण उनके चित्रो को या श्रवणबेलगोल के शासन-संग्रह मे दिये हुए २६ वे चित्र को देखे।

मराठी भाषाओं का उद्गम क्रमशः अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह भी विदित है कि मराठी, कोङ्कणी एवं कन्नड भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले बराबर होता रहा है। क्योंकि इन भाषा-भाषी देश के लोगों का पारस्परिक विशेष सम्बन्ध था। अब कोङ्कणी भाषा में एक शब्द 'गोमटो' या 'गोम्मटो' मिलता है और यह संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही रूपान्तर है। यह अद्यापि 'सुन्दर' अर्थ मे ही व्यवहृत है। कोङ्कणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा मे पहुंच कर कन्नड भाषा में प्रवेश कर गया हो—कोई आश्चर्य नहीं। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट संस्कृत के मन्मथ शब्द का तद्भवरूप है और यह कामदेव का द्योतक है।

श्रीयुत प्रो० के० जी० कुन्दनगार एम० ए० आदि एक दो विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। बल्कि कुन्दनगारजी का 'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका भाग XXIII, पृष्ठ ३०४—३०५ में इसके सम्बन्ध मे एक लेख प्रकाशित भी हो चुका हैं। पर श्रीयुत गोविन्द पै अपने इसी मत को इसी किरण में अन्यत्र प्रकाशित अपने अंग्रेजी लेख मे समर्थन करते हैं। श्रीयुत मित्रवर ए० एन० उपाध्ये और श्रीयुत के० जी० कुन्दनगार आदि विद्वानो को इस पर सप्रमाण विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

अब प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की विशाल मूर्त्ति मन्मथ या कामदेव क्यों कहलायी। जैनधर्मानुसार बाहुबली इस युग के प्रथम कामदेव माने गये है। इसी लिये श्रवणबेल्गोल मे या अन्यत्र स्थापित उनकी विशाल मूर्त्तियां उसके (मन्मथ के) तद्भवरूप 'गोम्मट' नाम से प्रख्यात हुई। बल्कि बाद मूर्तिस्थापना के इस पुण्यकार्य की पवित्र स्मृति को जीवित रखने के लिये आचार्य श्रीनेमिचन्द्रजी ने इस मूर्त्ति के संस्थापक चावुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से ही किया और इस नामको प्रख्याति देने के लिये ही चावुण्डराय के लिये रचे गये अपने 'पञ्चसंग्रह' ग्रंथ का नाम उन्होंने 'गोम्मटसार' रख दिया।*

जैनियों मे बाहुबली की मूर्त्ति की उपासना कैसे प्रचलित हुई यह भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसका प्रथम एवं प्रधान कारण यह है कि इस अवसर्पिणी-काल मे सब से प्रथम अर्थात् अपने श्रद्धेय पिता आदि तीर्थङ्कर वृषभ स्वामी से भी पहले मोक्ष जाने वाले क्षत्रिय वीर बाहुबली ही थे। मालूम होता है कि इस युग के आदि में सर्व-प्रथम मुक्ति-पथ-प्रदर्शक के नाते आपकी पूजा, प्रतिष्ठा आदि जैनियों मे सर्वमान्य-रूप से प्रचलित हुई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बाहुबली के अपूर्व त्याग, अलौकिक आत्मनिग्रह और नैजबन्धुप्रेम आदि असाधारण एवं अमानुषिक गुणों ने सर्वप्रथम अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को इन्हें पूजने को बाध्य किया होगा, बाद भरत का ही अनुकरण औरों ने भी।

* विशेष जिज्ञासु भास्कर भाग ४, किरण २ में प्रकाशित श्रीयुत गोविन्द पै का 'श्रीबाहुबली की मूर्त्ति गोम्मट क्यों कहलाती है?' शीर्षक लेख देखे।

अब देखना है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में बाहुबलीजी की प्रतिमा का विशेष प्रचार क्यों हुआ ? संसार का यह अटल नियम है कि जो जिस विषय में अपने को निष्णात बनाना चाहता है, वह उस विषय के विशेषज्ञ को ढूंढ़ता है। जैसे—धनुर्विद्या सीखने वाला एक योग्य धनुर्धर को एवं आयुर्वेद सीखनेवाला एक सुयोग्य आयुर्वेदज्ञ को। इस नियमानुसार क्षत्रिय वीरों के लिये संसार-विजयी, प्रथम कामदेव, महाबाहु बाहुबली को छोड़ कर दूसरा कोई आदर्श व्यक्ति नहीं मिल सकता था। यही कारण है कि चावुण्डराय जैसे वीर-मार्तण्ड ने इन्हीं को अपना आदर्श मान लिया। कार्कल एवं वेणूर के शासक वीर क्षत्रियों ने भी पीछे इन्हीं चावुण्डराय का अनुकरण किया है। वास्तव में वीर क्षत्रियों के लिये बाहुबली को छोड़कर इह-पर दोनों के सर्वयोग्य पथ-प्रदर्शक दूसरा कोई नहीं मिल सकता है।

श्रवणबेल्गोल !

[रचयिता—श्रीयुत कल्याणकुमार जैन, 'शशि']

तुम प्राचीन कलाओं का आदर्श विमल दरशाते
भारत के ध्रुव गौरव-गढ़ पर जैन-केतु फहराते
कला-विश्व के सुप्त प्राण पर अमृत-रस बरसाते
निधियों के हत साहस में नवनिधि-सौरभ सरसाते
आओ इस आदर्श कीर्ति के दर्शन कर हरषाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(२)

शुभस्मरण कर तीर्थराज हे शुभ्र अतीत तुम्हारा
फूल-फूल उठता है अन्तस्तल स्वयमेव हमारा
सुरसरि-सदृश वहा दी तुमने पावन गौरव-धारा
तीर्थक्षेत्र जग में तुम हो देदीप्यमान ध्रुवतारा
खिले पुष्प की तरह विश्व में नवसुगन्ध महकाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(३)

दिव्य विंध्यागिरि भव्य चन्द्रगिरि की शोभा है न्यारी
पुलकित हृदय नाच उठता है हो बरवस आभारी
श्रुत-केवली सुभद्रबाहु सम्राट् महा यश-धारी
तप-तप घोर समाधिमरण कर यहीं कीर्ति विस्तारी
उठो पूर्वजों की गाथाएं जग का मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(४)

सात-आठ सौ शिला लेख का है तुममें दुर्लभ धन
श्रावक-राजा-सेनानी श्राविका-आर्यिका मुनिजन
धीर-वीर-गम्भीर कथाएं धर्म-कार्य सञ्चालन
उन शिलालेखों में है इनका सुन्दरतम वर्णन
दर्शन कर इस पुण्य क्षेत्र का जीवन सफल बनाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(५)

धर्म-रक्षा पर प्राण दिये जिन लोगों ने हँस हँस कर
वीर-वधू सावियै* लड़ी पति-सँग समर के स्थल पर
चन्द्रगुप्त सम्राट् मौर्य का जीवन अति-उज्ज्वलतर
चित्रित है इसमें इन सब का स्मृति-पट महामनोहर
आ-आ एक बार तुम भी इसके दर्शन कर जाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(६)

मन्दिर अति-प्राचीन कलामय यहाँ अनेक सुहाते
दुर्लभ मानस्तम्भ मनोहर अनुपम छवि दिखलाते
सदा अनेकानेक विदेशी दर्शनार्थ हैं आते
सब विचित्र निर्माण देख आश्चर्य-चकित रह जाते
अपनी निरुपम कला देखने देशवासियों ! आओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(७)

प्रतिमा गोम्मटदेव बाहुबलि की अति-गौरवशाली
देखो कितनी आकर्षक है चित्त-लुभानेवाली

---

* इनका प्रकृत नाम सावियब्बे है। —के० बी० शास्त्री।

बढ़ा रही शोभा शरीर पर चढ़ लतिका शुभशाली
मानों दिव्य कलाओं ने अपने हाथों ही ढाली
इस उन्नति के मूल केन्द्र में जीवन ज्योति जगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(८)

ऊँचे सत्तावन सुफीट पर नभ से शीस लगाए
शोभा देती जैनधर्म का उज्ज्वल यश दरशाए
जिसने कौशल-कला-कलाविद के सम्मान बढाए
देख-देख हैदर-टीपू-सुलतान जिसे चकराए
आओ इसका गौरव लख अपना सम्मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में यश पाओ ॥

(९)

गंग-वंश के राचमल्ल नृप विश्व-कीर्ति-व्यापक हैं
नृप-मन्त्री चामुण्डरायजी जिसके संस्थापक हैं
जो निर्माण हुआ नौसे नब्बे* में यशवर्द्धक है
राज्य-वंश मैसूर आजकल जिसका संरक्षक है
उसकी देख-रेख रक्षा में अपना योग लगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(१०)

कहे लेखनी पुण्य-तीर्थ क्या गौरव-कथा तुम्हारी
विस्तृत कीर्ति-सिन्धु तरने में है असमर्थ विचारी
नत मस्तक अन्तस्तल तन-मन-धन तुम पर बलिहारी
शत-शत नमस्कार तुम को हे नमस्कार अधिकारी
फिर सम्पूर्ण विश्व में अपनी विजय-ध्वजा फहराओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

---

* मूर्ति-स्थापना-काल अभी ठीक निश्चित नहीं हो पाया है।

—के० बी० शास्त्री।

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

[लेखक—श्रीयुत प० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

अष्टाध्यायीसूत्र के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि और उनके भाष्यकार पतञ्जलि को इतिहासकारो ने ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् सिद्ध किया है। किन्तु शोलापुर से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि-नामक ग्रन्थ की तथोक्त महत्वपूर्ण प्रस्तावना में जैनसमाज के उदीयमान विद्वान् श्रीगौतमचन्द्र मोतीचन्द्र कोठारी एम० ए० ने उन्हें आद्य जैनव्याकरण के प्रणेता आचार्य पूज्यपाद (ईसा की ५वीं शताब्दी) का समकालीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। कोठारी जी का उक्त प्रयास यदि किन्हीं ठोस प्रमाणों के आधार पर अवलम्बित होता तो सचमुच जैनसमाज के लिये यह गर्व की बात होती। किन्तु मुझे दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होंने लिखते समय कदाचित् यह सोचा ही नहीं कि यह कार्य कितना गुरुतर है। उनकी भूमिका के ऐतिहासिक अंश को पढ़ कर मुझे तो यही प्रतीत हुआ कि वह इतिहासज्ञों के लिये नहीं लिखा गया और न ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही लिखा गया है। उसके लिखने में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम लिया गया है और संभवत वह उसी तरह के लोगों के लिये लिखा भी गया है। लेख का कोई-कोई मुद्दा (युक्ति) विचारणीय भी है, किन्तु लेखक ने इतने उतावलेपन से अपनी लेखनी को चलाया है कि उन्होंने अपने किसी भी तर्क को डटकर प्रमाणित नहीं किया है। उन्हें सोचना चाहिये था कि जिन ग्रन्थकारों के सम्बन्ध मे वे लेखनी चला रहे है उनके बारे में देशीय और विदेशीय लेखकों ने ज़रूरत से ज्यादा लिखा है और आज तक के सभी इतिहासज्ञ उन्हें ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् मानने में एकमत है। अतः उनके बारे में जो कुछ लिखा जाना चाहिये वह खूब सोच-समझ कर लिखा जाना चाहिये, जिससे अन्य इतिहासज्ञ उस पर विचार कर सकें और लेखक को उनके हास्य का पात्र न बनना पड़े। किन्तु लेखक ने उस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जान पडता। उनके लेख को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा उसे स्वय सिद्ध समझ लिया। अस्तु, मेरा लिखना कहाँ तक ठीक है यह आगे की आलोचना से स्वयं ज्ञात हो जायगा।

पूज्यपाद के नाम

नन्दिसंघ की पट्टावली में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

"यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्य गुणनन्दी गुणाकरः॥"

इस श्लोक में जितने नाम आये हैं, कोठारी जी उन्हें पूज्यपाद के नामान्तर बतलाते है। किन्तु यह ठीक नहीं है। इसके लिये हमें पट्टावली[1] का इससे पूर्व का श्लोक देखना चाहिये, जो निम्न प्रकार है—

"ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः॥"

इस श्लोक में बतलाया है कि—'उसके बाद दो पट्ट हो गये एक पूर्वीय पट्ट और दूसरा उत्तरीय। उन पट्टों में जो मुनीश्वर हुए उनके वास्तविक नाम निम्न प्रकार है।'

इस श्लोक के साथ उक्त श्लोक को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्लोक में जो यश कीर्ति, यशोनन्दी, द्वितीय नाम पूज्यपाद के धारक महामति देवनन्दी और गुणों के आकर गुणनन्दी का नाम आया है, ये सब नाम एक ही आचार्य के नहीं है, किन्तु पट्ट पर होने वाले विविध आचार्यो के नाम है। जो दो नाम एक ही आचार्य के थे, उन्हे पट्टावलीकार ने 'श्रीपूज्यपादापराख्यः' लिख कर स्वयं स्पष्ट कर दिया है। अन्य उपलब्ध प्रमाणों से भी पूज्यपाद के देवनन्दी और जिनेन्द्रबुद्धि ये दो ही नाम उपलब्ध होते हैं, यशःकीर्ति आदि नामों का समर्थन अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होता। 'गुणनन्दी' नाम के समर्थन में कोठारी जी ने शब्दार्णवचन्द्रिका का जो 'श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवम्' इत्यादि श्लोक दिया है, उसका आशय समझने में भी उन्हें भ्रम हुआ है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर के विशेषणरूप से क्रम से पूज्यपाद का, गुणनन्दी का और अपना निर्देश किया है। यह गुणनन्दी एक पृथक् आचार्य हुए है, जिन्होंने पूज्यपाद के सूत्रपाठ[2] को संशोधित और परिवर्धित कर के वह सूत्रपाठ तैयार

---

१ 'भास्कर' भाग १, किरण ४ मे नन्दिसंघ की पट्टावली २६ वें श्लोक से दी है और लिखा है कि इस पट्टावली के प्रारम्भ के २५ श्लोक श्रीशुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली के प्रारम्भिक २५ श्लोकों के ही समान हैं। अतः यह श्लोक यहां शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली से दिया गया है। उसमें भी इसके बाद 'यशःकीर्ति' इत्यादि श्लोक आता है।

२ जैनेन्द्रव्याकरण के दो सूत्रपाठ उपलब्ध है—एक पर महावृत्ति है और दूसरे पर शब्दार्णवचन्द्रिका तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया है। स्व० के० बी० पाठक दूसरे पाठ को मौलिक बतलाते है। उन्होंने इसके सम्बन्ध मे एक लेख लिखा था। किन्तु श्रीयुत प्रेमीजी महावृत्ति-वाले सूत्र-पाठ को ही मौलिक समझते है। इस सम्बन्ध मे 'जैनसाहित्य-संशोधक' भाग १, अङ्क २ मे प्रकाशित 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक उनका महत्त्वपूर्ण लेख पठनीय है। इस लेख के लिखने मे उससे भी सहायता ली गई है और इसके लिये मैं प्रेमीजी का आभारी हूं।

किया था, जिस पर शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रिया टीका बनाई गई है। यह बात शब्दार्णवचन्द्रिका के अन्तिम श्लोक के नीचे दिये चरणों से स्पष्ट है—

'श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ ।'

इसमें सोमदेव-निर्मित वृत्ति को गुणनन्दी आचार्य के 'शब्दार्णव' में प्रवेश करने के लिये नौका के समान बतलाया है। तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया के अन्तिम श्लोक में "सैषा श्री-गुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयम्' लिखकर बतलाया है कि गुणनन्दी ने शब्दार्णव के शरीर को विस्तृत किया था। अत. गुणनन्दी पूज्यपाद का नामान्तर नहीं है, किन्तु उस नाम के वह एक पृथक् आचार्य हैं।

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

कन्नड भाषा में चंद्रप्प कवि-निर्मित एक पूज्यपादचरित पाया जाता है। उसमें प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि को पूज्यपाद का मामा बतलाया है तथा लिखा है कि पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ को विना पूर्ण किये ही मर गये, और मरते समय अपने भानजे पूज्यपाद से अपना ग्रन्थ पूर्ण करने के लिये कह गये, जिसे उन्होंने बाद को पूर्ण कर दिया। कोठारी जी का मन्तव्य है कि इस चरित में कवि ने जो कुछ लिखा है वह सब प्रमाण है या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसका बहुभाग प्रमाण है और पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी की पूर्ति करने का उल्लेख तो प्रमाण है ही।

इस प्रकार कन्नडभाषा के उक्त चरित में वर्णित घटनाक्रम को आधार मानकर कोठारी जी ने पाणिनि को पूज्यपाद का समकालीन अर्थात् ईसा की पांचवी शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथा जब पाणिनिव्याकरण के प्रणेता पूज्यपाद के समकालीन हैं, तब उस पर महाभाष्य की रचना करनेवाले पतञ्जलि महाराज तो उनके बाद के होने ही चाहिये। किन्तु कोठारी जी ने उन्हे भी पाणिनि का न केवल समकालीन अपि तु उनका पूर्ववर्ती बतलाया है। क्योंकि वे लिखते हैं—"वयं तु भाष्यकारः खिष्टाब्दीयायां चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां प्रादुरासेति मन्यामहे।" अर्थात्—'हमारा मत है कि भाष्यकार ईस्वी सन् की चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी में हुए है। इसके पहले पाणिनि के विषय में उन्होंने लिखा है—"यद्यपि केषांचिद् विदुषां मतेन पाणिनिराचार्यः खिष्टकालापूर्वं स्वजनुषेमां भारतभूमिमलञ्चकार, तथाप्यस्मन्मतेन स खिष्टाब्दीयपञ्चमशताब्द्यां प्रादुर्बभूव।" अर्थात्—'यद्यपि किन्हीं विद्वानों के मत से आचार्य पाणिनि ने ईस्वी सन् से पहले इस भारतभूमि को अपने जन्म से सुशोभित किया था। किन्तु हमारे मत से वे ईसा की पांचवीं शताब्दी में हुए हैं।' इस स्खलित लेखनी के बारे में क्या लिखा जाये। अस्तु,

पाणिनि और भाष्यकार पतञ्जलि के पूर्वोक्त समय-निर्धारण में कोठारी जी ने जो उपपत्तियाँ दी हैं, उनकी आलोचना करने से पहले पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता के विरोध में ही कुछ लिखना उपयुक्त होगा। उस अवस्था में इनकी बहुत सी उपपत्तियाँ स्वतः बेकार हो जायेंगी।

संस्कृत के अभ्यासियों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन ने वार्तिक बनाई थीं और भाष्यकार ने अपने भाष्य में उनका व्याख्यान इत्यादि किया है। तथा महाभाष्य में कुछ ऐसी वार्तिक इत्यादि भी पायी जाती हैं, जिन्हें भाष्यकार ने कात्यायन की वार्तिकों के सम्बन्ध में उद्धृत किया है। इस प्रकार के वार्तिक आदि के रचयिता भारद्वाजीय और सौनाग आदि कहे जाते हैं। उदाहरण के लिये—

(१) २-२-१८ सूत्र पर कात्यायन की तीसरी वार्तिक "सिद्धं तु क्वाङ्स्वतिदुर्गतिवचनात्" और चौथी वार्तिक "प्रादयः क्तार्थे" है। इन दोनों वार्तिकों का व्याख्यान करके पतञ्जलि लिखते हैं—"एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्।" इसका व्याख्यान करते हुए कैयट लिखता है—"एतदेवेति। कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।"

(२) १-१-२० सूत्र पर कात्यायन की वार्तिक है—"घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" इस पर पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" यह वार्तिक कात्यादन के नियम में एक मौलिक परिवर्तन करती है।

(३) ३-१-८९ सूत्र में पाणिनि ने जो नियम बतलाया था, उसमें वृद्धि करते हुए कात्यायन लिखते हैं—"यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिच्श्रीब्रूञामुपसंख्यानम्।" इसकी व्याख्या करने के बाद पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।" यह कात्यायन के मत की एक तरह से आलोचना ही है जो भारद्वाजियों ने की है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इनके सिवाय भाष्यकार ने 'अन्ये' 'केचित्' आदि लिख कर कुछ अन्य आचार्यों के भी मतों का उल्लेख किया है।

वार्तिकों के सिवाय महाभाष्य में बहुत सी कारिकाएं भी पाई जाती हैं। और जैसे सब वार्तिकों को एक लेखक की बतलाना भ्रामक है उसी तरह सब कारिकाओं को भी एक ही लेखक की बतलाना भ्रमपूर्ण है। ये कारिकाएं कात्यायन की भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनमें से कुछ कारिकाएं कात्यायन के नियमों का संग्रहरूप है, कुछ उनके विरुद्ध हैं और कुछ वार्तिकों की आलोचना करती है। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि पतञ्जलि ने कारिकाओं का कुछ भाग बिना व्याख्या

किये ही रहने दिया है जब कि कुछ भाग पर वार्तिकों के ढंग से ही व्याख्यान किया है। अव्याख्यात कारिकाएं दो प्रकार की हैं—एक[1] तो वार्तिकोक्त बातों का केवल संग्रह के रूप में है और वे प्राय उस सूत्र के व्याख्यान के अन्त में पाई जाती है, जिनसे वे सम्बन्ध रखती है। दूसरी[2] प्रकार की अव्याख्यात कारिकाएँ वार्तिकों का केवल संग्रहीत रूप नहीं है, किन्तु वे भाष्य के विवरण की आवश्यक अङ्गभूत है। पाणिनि-व्याकरण के विशिष्ट अभ्यासी पं० गोल्ड स्टूकर का मत है कि ये अव्याख्यात कारिकाएँ कात्यायन को वार्तिकों के बाद में रची गई हैं।

वार्तिक और कारिकाओं के सिवाय महाभाष्य में जो तीसरी वस्तु ध्यान देने योग्य है, वह है परिभाषाएँ। कुछ परिभाषाएँ कात्यायन से पहले की मानी जाती हैं; क्योंकि कात्यायन ने अपनी वार्तिकों[3] में उन्हें उद्धृत किया है।

महाभाष्य के इस विहगावलोकन से हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन के वार्तिक रचे जाने के बाद, तथा उन वार्तिकों के ऊपर भी भारद्वाजीय वगैरह वैयाकरणों के प्रति-वार्तिकों तथा कारिकाओं की रचना होने के बाद पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य बनाया था। कात्यायन ने पाणिनि के लगभग आधे सूत्रों पर वार्तिक रची है, जिनकी संख्या ४००० से भी अधिक है। इन वार्तिकों के द्वारा कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण की बहुत सी कमियों की पूर्ति की है, अनेक नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन किया है। उनके देखने से पता चलता है कि पाणिनि के समय में जो प्रयोग

---

१ इस प्रकार की कारिकाओं के बारे मे टीकाकार भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यथा—२-१-६० सूत्र की व्याख्या मे कैयट लिखते हैं—"पूर्व एवार्थः आर्यया संगृहीत.।" २-४-८५ मे "एष एवार्थ आर्यया दर्शितः।" २-४-८५, कारिका २, ३, मे—"पूर्वोक्त एवार्थः श्लोकेन संगृहीतः।" इत्यादि।

२ दूसरी प्रकार की कारिकाएँ ४-१-४४ सूत्र की चर्चा मे पाई जाती है। यथा—'गुणवचनादित्युच्यते। को गुणो नाम ? सत्वे निवेशते ...' इत्यादि। इसी के आगे "अपरः—आह" करके 'उपैत्यन्यद् जहात्यन्यद्' इत्यादि अव्याख्यात कारिका है। तथा ४-१-६३ मे—"जातेरित्युच्यते। का जातिर्नाम ? आकृतिग्रहणा जातिः ... " इत्यादि। "इसी के आगे 'अपरः आह' करके 'प्रादुर्भावविनाशाभ्याम्" इत्यादि कारिका है जो दूसरा मत बतलाती है।

३ १-१-६५ पर एक वार्तिक इस प्रकार है—"अन्त्यविज्ञानात्सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।" इसका 'नानर्थके' इत्यादि अंश परिभाषा है, जो भाष्य से स्पष्ट है।

शुद्ध समझे जाते थे, कात्यायन के समय में वे या तो अशुद्ध समझे जाने लगे थे, या उनका प्रचार नहीं रहा था। यथा—"इन्धिभवतिभ्याञ्च" (१-२-६), पाणिनि का यह सूत्र इन्ध् और भू धातु से परे लिट् को कित् करता है, किन्तु कात्यायन उसका निषेध करते हुए कहते हैं—"इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्।"

कात्यायन की वार्तिकों से दूसरी बात यह मालूम होती है कि उस समय कुछ शब्दों का जो अर्थ प्रचलित था, पाणिनि उससे अनभिज्ञ थे। यथा—पाणिनि लिखते हैं—'अरण्यान्मनुष्ये' (४-२-१२९), इससे स्पष्ट है कि वह आरण्यक का अर्थ 'जंगल में रहनेवाला मनुष्य' करते है। किन्तु इस पर पतञ्जलि 'अत्यल्पमिदमुच्यते मनुष्य इति' लिख कर लिखते हैं—'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्'। यह कात्यायन को वार्तिक है जो आरण्यक का अर्थ जंगल का रास्ता, जंगली हाथी, आरण्यक[1] अध्याय आदि बतलाता है।

पाणिनि के विशिष्ट अभ्यासियों ने कात्यायन और पाणिनि का पौर्वापर्य बतलाने के लिये इस तरह की बहुत सी बातें महाभाष्य से खोज निकाली है, उनके देने से लेख का व्यर्थ कलेवर बढ़ जायगा। हमारा इस चर्चा से केवल इतना ही बतलाने का अभिप्राय है कि पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता तो असम्भव है ही किन्तु पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिकों के रचयिता कात्यायन भी पतञ्जलि के समकालीन नहीं थे। इन तीनों ग्रन्थकारों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलता है उस पर विचार करते हुए पाणिनि और पतञ्जलि के बीच में कम से कम २०० वर्ष का अन्तर मानना होगा, क्योंकि इतना अन्तराल माने बिना शब्दशास्त्र की वे समस्याएं हल नहीं हो सकतीं, जो उक्त तीनों रचनाओं के क्रमिक अध्ययन से ज्ञात होती हैं और जिनका आभास-मात्र ऊपर कराया गया है। अतः पाणिनि को ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य या अन्त का विद्वान् मानने पर पतञ्जलि को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि भाष्यकार पतञ्जलि प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के समकालीन थे, जिनका मरण ई० ६५० में हुआ था। किन्तु भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय-नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के द्वितीय काण्ड के अन्त में महाभाष्य का जो इतिहास दिया है, वह इस स्थिति पर अच्छा

१ इसीपर से विद्वानों का यह विचार है कि पाणिनि वैदिक शास्त्र आरण्यकों से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उन्होंने आरण्यक शब्द का अर्थ 'आरण्यक अध्याय' नहीं किया, जैसा कि कात्यायन ने किया है। अतः वे आरण्यकों की रचना से पहले हुए हैं।

प्रकाश डालता है। भर्तृहरि लिखते हैं—

"प्रायेण[1] संक्षेपतश्च नव्यविद्यापरिग्रहान्।
संप्राप्य वैयाकरणान संग्रहे समुपागते॥
कृतेऽथ पातञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः॥
वैजिसौभवहर्यचैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षेनिलाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुकैः॥
यः पातञ्जलिशिष्येभ्योऽभ्रष्टो व्याकरणागमः।
कालेन दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशास्त्रत्वं चन्द्राचार्यादिभि पुनः॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः॥"

अर्थात्— नव्य विद्या के पारगामी वैयाकरणों की तथा (व्याडि के) संग्रह की सहायता से पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में समस्त न्यायों का निबन्धन किया। जब लोगों को यह मालूम हुआ कि यह महाभाष्य बहुत गम्भीर है अत इसकी गहनता का पता लगाना कठिन है, तथा अकृतबुद्धि जन उसमें दृढ़ निश्चय नहीं रह सकते। तब शुष्क तर्क के अनुसर्ता, वैजि, सौभव और हर्यक्ष नाम के वैयाकरणों ने, जो संग्रह के तरफ़दार थे, पतञ्जलि के भाष्य को छिन्न-भिन्न कर डाला। पतञ्जलि के शिष्यों से उसका ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो सका और उसकी एक कापी कुछ समय तक दक्षिण में रही। चन्द्रादि आचार्यों ने पर्वत से इस ग्रन्थ को प्राप्त किया और उसको बहुत सी पुस्तकों में कर दिया (अर्थात् उसकी बहुत सी प्रतिलिपियाँ करा डालीं)। मेरे गुरु ने उन न्यायों का तथा अपने दर्शन का अभ्यास करके यह आगम संग्रह बनाया।

इस उल्लेख से कम से कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि के जन्म से बहुत पहले महाभाष्य की रचना हो चुकी थी। चीनी यात्री इत्सिंग के उल्लेखानुसार भर्तृहरि[2] की मृत्यु ई० ६५० में हुई है। यदि उनकी मृत्यु से १५० वर्ष पहले भी पतञ्जलि का काल

---

१ ये श्लोक गोल्डस्टूकर के ग्रन्थ से लिये गये हैं।

२ इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर एक वृत्ति रची थी। कुमारिल के तंत्रवार्तिक पृ० २२३ में भी भर्तृहरि की इस टीका का उल्लेख मिलता हैं।

माना जावे तो पाणिनि का समय ईसा की पांचवीं शताब्दी नहीं हो सकता, क्योंकि हम ऊपर बतला आये है कि पाणिनि और पतञ्जलि कभी भी समकालीन नहीं हो सकते।

राजतरङ्गिणी में एक श्लोक निम्न प्रकार से मिलता है—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं[1] च व्याकरणं कृतम्॥१–१७६॥

अर्थात्—चन्द्र आदि आचार्यों ने उसकी (राजा अभिमन्यु की) आज्ञा प्राप्त करने के बाद महाभाष्य का उद्धार किया और अपना व्याकरण (चन्द्रव्याकरण) बनाया।

भर्तृहरि के 'पर्वतादागमं लब्ध्वा' आदि श्लोक के साथ इस श्लोक को पढ़ने से दोनों का आशय एक सा लगता है। यह चन्द्र चन्द्रव्याकरण का प्रणेता वैयाकरण चन्द्र ही प्रतीत होता है। यह चन्द्र[2] पूज्यपाद का पूर्ववर्ती माना जाता है। अतः इस उल्लेख के आधार पर न केवल पाणिनि, किन्तु भाष्यकार पतञ्जलि भी पूज्यपाद के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार पाणिनि और पतञ्जलि के साहित्य तथा अन्य उल्लेखों के आधार पर न केवल पाणिनि अपि तु पतञ्जलि भी पूज्यपाद के समकालीन या बाद के सिद्ध नहीं होते ऐसी दशा में कोठारी जी ने उनको समकालीन सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये हैं, उन पर विचार करना केवल लेख की कलेवर-वृद्धि का ही कारण होगा। तथापि पाठकों को यह बतलाने के लिये कि कोठारी जी ने इस गुरुतर ऐतिहासिक कार्य में कितने उतावलेपन से बिना विचारे लेखनी चलाई है, उनके कुछ प्रमाणों पर विचार किया जाता है।

पाणिनि तथा जैनेन्द्रव्याकरण के बहुत से सूत्र परस्पर में मिलते हैं। इसके आधार पर पूज्यपाद-चरित की इस बात को प्रमाणित करना कि पूज्यपाद ने पाणिनिव्याकरण को पूर्ण किया था, केवल हास्यास्पद है। इसी तरह यदि भाष्यकार या काशिकाविवरणकार किसी मत को पूर्वाचार्य का बतलाते हैं और वह मत जैनेन्द्र-व्याकरण के रचयिता का भी है तो 'भाष्यकार और का० विवरणकार ने पूज्यपाद के मत का उल्लेख किया है' यह कल्पना तभी सत्य समझी जा सकती है जब उनसे पहले केवल पूज्यपाद ही ऐसे वैयाकरण सिद्ध हों, जिनका उक्त मत रहा हो। बिना ऐसा किये यह तो असिद्ध को

१ मि० ट्रोयर ने अपने संस्करण में 'चन्द्रव्याकरणं कृतम्' पाठ दिया है। ऐसा गोल्डस्टूकर लिखते हैं।

२ देखो—'अन्नल्स आफ भण्डारकर पूना, जि० १३, पृ० २५ पर डा० पाठक का लेख।

असिद्ध से सिद्ध करने की चेष्टा के समान ही है। हम पहले बतला आये हैं कि भाष्यकार ने 'केचित्' आदि लिखकर अनेक आचार्यों के मतों का निर्देश किया है। अतः इस प्रकार के थोथे प्रमाणों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

१ पतञ्जलि ने 'अपरः आह' करके जाति का एक लक्षण उद्धृत किया है। जिसकी विचारधारा जैनसिद्धान्त से मेल खाती है। इस मामूली सी बात से कोठारीजी ने निष्कर्ष निकाला है कि भाष्यकार किसी जैनवैयाकरण से बाद में हुए हैं। वैयाकरण व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में वैयाकरणों के ही मत उद्धृत करने की प्रतिज्ञा तो सम्भवतः नहीं करते हैं। यदि ऐसा कोई नियम होता कि व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में किसी नैयायिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या कवि का कोई मत या कोई विचार उद्धृत नहीं करना चाहिये तो हम कोठारी जी के उक्त निष्कर्ष से किसी तरह सहमत हो भी जाते। किन्तु इस बादरायण-सम्बन्ध से सहमत होने के लिये हमारी क्षुद्र बुद्धि तैयार नहीं होती। क्योंकि जैन-विचारधारा तो अतिप्राचीन है, उसे भाष्यकार किसी अन्य स्रोत से जान कर लिख सकता था। पूज्यपाद के साथ इस विचारधारा का, पता नहीं, कैसे अविना-भावी सम्बन्ध जोड़ लिया गया है।

२ 'वाहनमाहितात्' इस सूत्र पर भाष्यकार ने 'अपर आह' करके 'वाहनवाह्यादिति वक्तव्यम्' ऐसा लिखा है। जैनेन्द्र में 'वाह्याद्वाहनम्' सूत्र है। इस शब्द-साम्य से, जो यथाक्रम भी नहीं है, कोठारी जी निष्कर्ष निकालते हैं कि 'अपर' पद से जैनेन्द्रकार का उल्लेख किया है। क्यों भई, यदि जैनेन्द्र का सूत्र ही भाष्यकार ने उद्धृत किया है तो उसे उसने परिवर्तित क्यों कर दिया ? क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जैनेन्द्रकार ने भाष्य की इस वार्तिक को ही परिवर्तित करके अपना सूत्र बना लिया है, जैनेन्द्रकार के सामने कात्यायन की वार्तिक थी, यह बात उनके सर्वार्थसिद्धि-विषयक उल्लेखों से स्पष्ट है।

३ तत्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के 'पीतपद्मशुक्कलेश्याद्वित्रिशेषेषु' इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने एक वाक्य इस प्रकार लिखा है—"यथाहुः—द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति।" पाणिनि के "तपरस्तत्कालस्य' (१-१-७०) सूत्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने एक वार्तिक इस प्रकार दी है—"यद्येवं द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यान कालभेदात्।" आगे इसका व्याख्यान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्" इत्यादि। इसका भी कोठारी जी ने वही निष्कर्ष निकाला है। कोठारी जी की इस महती भूल को देख कर मेरी उनके विषय में जो धारणा थी, उसे बड़ी ठेस

पहुंची है। एक विद्वान् व्यक्ति लेखनी के द्वारा जानबूझ कर इतनी बड़ी भूल कर सकता है, यह मेरा आत्मा मानने के लिये तैयार नहीं है। सर्वार्थसिद्धि के जिस प्रकरण में उक्त वाक्य है, उसका आशय कोठारी जी ने क्या समझा है? यह तो वे ही बतला सकते हैं। किन्तु प्रकरण यह है कि टीकाकार पूज्यपाद ने "पीता च पद्मा च शुक्ला च ताः पीतपद्म-शुक्लाः' इस प्रकार सूत्रस्थ पद का समास किया। उस पर शिष्य ने पूछा—"कथं ह्रस्व-त्वम्" अर्थात् पीता का पीत इत्यादि में ह्रस्वत्व कैसे हो गया? आचार्य ने उत्तर दिया—'औत्तरपदिकम्' अर्थात्—उत्तर पद परे रहते ह्रस्वत्व हो गया है। अपने इस उत्तर की पुष्टि में आचार्य ने 'यथाहुः' करके 'द्रुतायाम्' इत्यादि वाक्य प्रमाण-रूप म उद्धृत कर दिया। अर्थात्—जैसे 'मध्यमविलम्बितयोः' में (मध्यमा च विलम्बिता च मध्यमविलम्बिता) उत्तरपद 'विलम्बित' रहते हुए 'मध्यमा' पद को ह्रस्वत्व हो गया है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये। 'यथाहुः' का 'आहुः' पद ही यह बतलाता है कि ग्रन्थकार किसी अन्य पुरुष का प्रमाणवाक्य दे रहे हैं। सम्भवतः इसी से कोठारी जी ने इसे प्रमाणरूप में उपस्थित करते समय 'आहु.' पद को छोड़ कर केवल 'यथा' शब्द का उल्लेख किया है। महाभाष्य से स्पष्ट है कि अपने मत के समर्थन में पूज्यपाद ने जिस वाक्य को प्रमाणरूप से उपस्थित किया है, वह कात्यायन की वार्तिक है। अतः पाणिनि और उनके वार्तिक-कार कात्यायन, दोनों पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं, यह निर्विवाद है। और भी लीजिये—सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ७, सूत्र १६ की व्याख्या में 'मैथुन' शब्द का अर्थ बतलाते हुए पूज्यपाद स्वामी अपने अर्थ के समर्थन में शास्त्र का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—"शास्त्रेऽपि 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम् इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते'। इस वाक्य में उद्धृत 'अश्ववृष-भयोर्मैथुनेच्छायाम्' पद पाणिनि के ७-१-५१ सूत्र पर कात्यायन की प्रथम वार्तिक है। यहाँ पूज्यपाद ने कात्यायन की वार्तिक अथवा भाष्य का 'शास्त्र' शब्द से उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूज्यपाद और पाणिनि समकालीन नहीं थे। अतः कन्नड के पूज्यपाद-चरित्र के आधार पर कोठारी जी ने जो कुछ हवाई महल खड़ा किया है, ऐतिहासिक जगत में उसका कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता और न इस तरह की असत्कल्पनाओं से जैनसाहित्य और जैनाचार्यों का महत्त्व ही बढ़ सकता है।

पार्श्वनाथ-चरित का श्लोक

वादिराज के पार्श्वनाथचरित के प्रथम परिच्छेद में तीन श्लोक निम्न प्रकार से मुद्रित है।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदश्यते॥ १७॥

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ १९ ॥

किसी लेखक आदि की भूल से किसी प्रति में यह श्लोक उक्त क्रम से लिखे गये हैं और उसी पर से इस तरह मुद्रित भी हो गये हैं। किन्तु वास्तव में १७ वां और १९ वां श्लोक एक साथ हो कर अट्ठारहवां उनके बाद में होना चाहिये। क्योंकि १७ वें श्लोक में समन्तभद्र का स्मरण करते हुए उनके देवागमस्तोत्र का उल्लेख किया है और १९ में उनके रत्नकरण्डनामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। किन्तु १८ वें 'देव' शब्द से प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दी का स्मरण किया है। आदिपुराण और हरिवंशपुराण[1] में भी इन्हें इसी संक्षिप्त

---

१ हरिवंशपुराण का यह श्लोक निम्न प्रकार हैं—

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यते गिरः कथम्?

न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना (पृ० १००) मे मैंने लिखा था कि इस श्लोक में देवनंदी का स्मरण किया है। और अपने इस विचार को कई युक्तियो से सिद्ध किया था। किन्तु 'अकलङ्क-ग्रन्थत्रय' की प्रस्तावना मे पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने मेरे इस मत का निराकरण किया है। आप की मुख्य आपत्ति यह है कि पूज्यपाद जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता हैं अतः इन्द्र चन्द्र आदि व्याकरणों के साथ उन्हे अपने ही रचित व्याकरण का ईक्षिन्-द्रष्टा कहना ठीक नहीं है। किन्तु इस आपत्ति का परिहार यह हो सकता है कि हरिवंशपुराणकार की दृष्टि मे पूज्यपाद इतर व्याकरणों के भी उतने ही विशिष्ट अभ्यासी थे जितने स्वरचित व्याकरण के। अर्थात् जिस तरह स्वरचित ग्रन्थ के प्रत्येक रहस्य से रचयिता अभिज्ञ रहता है उसी तरह वे पर-रचित व्याकरणों के भी प्रत्येक रहस्य से अभिज्ञ थे। श्रवणबेल्गोल के शिलाले० नं० ५० के एक उल्लेख से भी इस बात का समर्थन होता है। उसमे मेघचन्द्र मुनि का गुणगान करते हुए उन्हे 'सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्' लिखा है, जो बतलाता हैं कि पूज्यपाद समस्त व्याकरणो के परगामी थे। यदि इस बात को स्वीकार न किया जाये और इस श्लोक के द्वारा अकलङ्कदेव का स्मरण किया जाना ही ठीक माना जाये, जैसा कि पण्डितजी का मत है, तो इस व्याकरण-शास्त्र के नियमों की विरोध-सम्बन्धी आपत्ति के सामने अनेक ऐतिहासिक आपत्तियां आ खड़ी होती है, जिन्हे दृष्टि से ओझल नही किया जा सकता। तथा उसके विरुद्ध दूसरे मत के समर्थन मे अनेक उपपत्तियां भी मिलती हैं।

नाम से स्मरण किया हैं। अतः कोठारीजी ने इस श्लोक के आधार पर जो समन्तभद्र को वैयाकरण सिद्ध किया है वह भी भ्रमपूर्ण है।

दोनों बातें निम्न प्रकार हैं—

१ यदि उक्त श्लोक में अकलङ्क देव का ही स्मरण हुआ माना जाये तो कहना होगा कि हरिवंशपुराणकार ने पूज्यपाद का स्मरण ही नहीं किया। किन्तु यह बात किसी भी तरह नहीं जंचती कि हरिवंशपुराणकार अपनी रचना के प्रारम्भ में प्रमुख-प्रमुख शास्त्रकारों का स्मरण करते समय जैनेन्द्रव्याकरण के अध्येता अकलङ्क देव का तो वैयाकरण या व्याकरणशास्त्र-निष्णात के रूप में स्मरण करें और आद्य जैनव्याकरण जैनेन्द्र के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दी को भूल ही जायें।

२ अब तक शास्त्रों तथा शिलालेखों में पूज्यपाद और अकलङ्क के सम्बन्ध के जो उल्लेख मेरी दृष्टि से गुजरे हैं, उनमें पूज्यपाद का वैयाकरण के रूप में और अकलङ्क का तार्किक के रूप में ही स्मरण किया गया है। जैनसाहित्य में सर्वत्र एक ही ध्वनि गूंजती सुनाई पड़ती है; और वह है—"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।" वैयाकरण के रूप मे अकलङ्क का जिसमे स्मरण किया गया हो ऐसा कोई उल्लेख कमसे कम मेरे देखने में तो नहीं आया।

३ हरिवंशपुराणकार जिनसेन और आदिपुराणकार जिनसेन, दोनों समकालीन थे, किन्तु हरिवंश पुराण की रचना पहले और आदिपुराण की रचना बाद को हुई है। हरिवंश-पुराण की तरह आदिपुराण के भी प्रारम्भ में व्यतिक्रम से सिद्धसेन और समन्तभद्र का स्मरण कर (बीच में कुछ अन्य आचार्यों का स्मरण करने के बाद) देव नाम के विद्वान् का स्मरण इस प्रकार किया है—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥"

इसमें देव को 'कवियों का तीर्थङ्कर' बतलाया है और उनके वचोमय तीथ को विद्वानों के वाङ्मल का नाशक लिखा है। हरिवंशपुराण के पूर्वोक्त श्लोक को देखते हुए यह श्लोक भी अकलङ्क देव के पक्ष में सरलता से लगाया जा सकता है। क्योंकि व्याकरण-शास्त्र-निष्णात का वचोमय तीर्थ 'वाङ्मलध्वंसि' होना ही चाहिये। यदि आदिपुराणकार ने अकलङ्क का पृथक् स्मरण न किया होता तो पण्डितजी इसे भी अकलङ्क के पक्ष मे लगाये विना न छोड़ते। किन्तु उसके बाद ही अकलङ्क का नाम स्मरण करके ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि शब्द-शास्त्र-निष्णात 'देव' भट्टाकलङ्क से पृथक् विद्वान् हैं और वे देवनन्दी के सिवाय दूसरे नहीं हो सकते।

४ आदिपुराणकार ने "भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः" आदि लिख कर भट्टाकलङ्क का केवल सामान्य उल्लेखमात्र कर दिया है, 'देव' की तरह पृथक् रूप से उनके

आशा है कोठारी जी मेरे इस लेख को सद्भाव से ही अपनायेंगे और भविष्य में कुछ लिखते समय जल्दबाजी से काम न लेंगे। उनसे हमलोगों को बड़ी आशाएँ❀ हैं।

किसी विशेष गुण का स्मरण नहीं किया। यदि हरिवंशपुराणकार अकलङ्क देव का स्वतन्त्र स्मरण करते तो यह संभव प्रतीत नही होता कि आदिपुराणकार उनका उल्लेखमात्र करके ही छोड़ देते। इससे भी सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराणकार ने जिनका उल्लेख भी नहीं किया था, आदिपुराणकार ने उनका कम से कम सामान्य उल्लेख तो कर ही दिया।

५ हरिवंशपुराण मे 'देव' के स्मरण के बाद ही वज्रसूरि का स्मरण किया गया है। देवसेन के उल्लेख के अनुसार वज्रनन्दी देवनन्दी के शिष्य थे। इस पौर्वापर्य से भी यह सिद्ध होता है कि वज्रसूरि के पहले जिन 'देव' का स्मरण किया गया है, वह वज्रसूरि के गुरु देवनन्दी ही हैं। ग्रन्थकार ने दोनों के 'नन्दी' पद को छोड़ कर केवल 'देव' और 'वज्र' नाम से उनका स्मरण किया है।

हरिवंश पुराण (मा० ग्र० मा०) में 'देवसंघस्य' पाठ मुद्रित है। किन्तु उसी के नीचे टिप्पण मे लिखा है कि 'देववन्द्यस्य' और 'देवनन्दस्य' पाठ भी उपलब्ध हैं। 'देवनन्दस्य' पाठ अशुद्ध है किन्तु उस पाठ से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस श्लोक मे 'देव' पद से देवनन्दी का ग्रहण अभीष्ट था। अतः इसे क्लिष्ट कल्पना तो नहीं कहा जा सकता। 'देवसंघस्य' पद अकलङ्कदेव के यद्यपि अनुकूल पड़ता है, क्योकि उन्हे देवसंघ का आचार्य कहा जाता है। किन्तु एक तो इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, दूसरे श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १०८ मे लिखा है कि अकलङ्कदेव के स्वर्गगत हो जाने पर यह संघ भेद हुआ था। तीसरे उक्त श्लोक में अकलङ्कदेव का स्मरण हुआ मानने मे पूर्वोक्त बाधाएँ उपस्थित होती है। अतः मेरा विचार है कि 'देवसंघस्य' के स्थान मे दूसरी प्रतियों मे उपलब्ध 'देववन्द्यस्य' पाठ ही ठीक है। श्रीयुत प्रेमीजी ने भी अपने देवनन्दि-विषयक लेख मे यही पाठ रक्खा है। पता नहीं, पण्डित जी प्रतियों मे उपलब्ध इस पाठ को स्थान देने में कैसे 'कल्पना-गौरव' समझते हैं। कल्पना-गौरव तो तब कहा जा सकता था, जब यह पाठ किसी प्रति मे उपलब्ध नहीं होता और सङ्गति ठीक बैठाने के लिये अपनी ओर से उसकी कल्पना की जाती। किन्तु ऐसा तो नहीं किया गया है। तथा शिलालेखो के पूज्यपाद-विषयक उल्लेखों में भी 'देववन्द्यस्य' पाठ का समर्थन होता है। यथा—श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १०८ मे पूज्यपाद को 'सुराधीश्वरपूज्यपादः' लिखा है। शिलालेख नं० १०५ मे 'यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः' लिखा है। शिलालेख नं० ४० मे लिखा है—'देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।'

इस उक्त विवेचन से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि हरिवंशपुराणकार ने प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दी का ही स्मरण किया है, न कि व्याकरणशास्त्रनिष्णात अकलङ्कदेव का।

❀ इस लेख के लिखने में मुझे गोल्ड स्टूकर के 'पाणिनि' नामक ग्रन्थ से बहुत अधिक सहायता मिली है। अतः उनका आभार कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जाता है।

वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण]

जैन ऐतिहासिक महापुरुषों मेंवीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय भी एक हैं। भारत का इतिहास इनका अमर नाम कभी भुला नहीं सकता। वल्कि इनके द्वारा निर्मापित श्रवणबेलगोल की वह अद्भुत विशाल मूर्त्ति जव तक मौजूद रहेगी तवतक संसार मे इनकी धवल कीर्त्ति अविच्छिन्न रूप से फैली रहेगी। एक वात हमें याद रखनी चाहिये कि जैसे वह मूर्त्ति अद्भुत, अनुपम एवं विशाल है इसी प्रकार वीरमार्त्तण्ड का व्यक्तित्व भी सचमुच अद्भुत, अनुपम तथा महान् है। यद्यपि चावुण्डराय की जीवन-घटनाओं का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त नहीं है; फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध कीर्त्ति-गाथाओं से इनके महान् व्यक्तित्व का पता अवश्य लग जाता है।

स्वरचित 'त्रिपष्टिलक्षणमहापुराण' (पृष्ठ ५) एवं श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरिवाले शिलालेख (२८१) मे चावुण्डराय ब्रह्मक्षत्रियवंशज वतलाये गये हैं। इससे अनुमान होता है कि मूल में इनका वंश ब्राह्मण था, वाद क्षत्रियकर्म—असिकर्म—को अपनाने से यह क्षत्रिय गिने जाने लगे। खेद की वात है कि दुर्भाग्य से इनके माता-पिता कौन थे और इनका जन्म कहाँ और किस तिथि को हुआ था आदि वातों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यों तो 'भुजवलि चरित' मे लिखा है कि इनकी माता का नाम कलाल देवी था। हाँ, चावुण्डराय दीर्घकाल तक जीते रहे, यह अनुमान करना आसान है। क्योंकि इन्हें एक-दो नहीं, तीन शासकों के शासन-काल मे काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। साथ ही साथ यह जानना भी सुलभ है कि चावुण्डराय के वहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग गंगों की राजधानी तलकाड में ही व्यतीत हुआ था।

अजितसेनाचार्य के परम शिष्य 'गंगकुलाब्धिचन्द्र' 'गंगकुलचूडामणि', 'जगदेकवीर' 'धर्मावतार' आदि अन्वर्थ उपाधियों से विभूपित राचमल्ल (चतुर्थ) इनके प्रकृत आश्रयदाता थे। जिस गंगवंश का सुदृढ राज्य मैसूर प्रान्त में लगभग ईसा की चौथी शताव्दी से लेकर ग्यारहवीं शताव्दी तक वना रहा, राचमल्ल उसी गंगवंश के सुशासक मारसिंह के उत्तराधिकारी थे। गंगराजाओं के शासनकाल में वर्तमान मैसूर का वहुभाग उन्हीं के राज्य के अन्तर्भुक्त था, जो उस समय 'गंगवाडि' कहलाता था। गंगराज्य उस समय अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा पर पहुंच गया था और आदि से ही इस राज्य का जैनधर्म से घनिष्ठ सम्वन्ध रहा। वल्कि श्रवणवेलगोल के लेख नं ५४ (६७) एवं गंगवंश के अन्यान्य दानपत्रों से यह वात निर्विवाद सिद्ध होती है कि गंग-वंश की जड़ जमानेवाले जैनाचार्य सिंहनन्दी ही थे। इस कथन को 'गोम्मटसारवृत्ति' के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती ने भी स्वीकार किया है। हेव्वूरु

वीरमार्त्तण्ड कवियों के सच्चे आश्रयदाता थे। जिस समय महाकवि रन्न विद्याध्ययन-निमित्त अपने वन्धु-वान्धव एवं जन्मभूमि को त्याग कर गङ्गराजधानी में पहुंचे उस समय चावुण्डराय ने इनकी विद्यारुचि, मुख की तेजस्विता आदि गुणों का अनुभव कर इन्हें अपने पास रक्खा और इनके अध्ययन की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी। चावुण्डराय के हस्तावलम्बन से कुछ ही समय में रन्न एक अद्वितीय कवि निकले, जिनकी प्रशंसा आज भी सम्पूर्ण कर्णाटक मुक्तकण्ठ से सगर्व कर रहा है। यह कवि कन्नड कविरत्नत्रयों में अन्यतम हैं। इनकी कविता से मुग्ध होकर ही राजा तैलपने 'कविचक्रवर्त्ती' की बहुमूल्य उपाधि प्रदान की थी। अगर वीरमार्त्तण्ड असहाय रन्न को उस समय आश्रय नहीं देते तो आज कर्नाटक को इनकी सुधामयी कविता के रसा-स्वादन का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं होता। यों तो वीर-मार्तण्ड चावुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग रण-क्षेत्र मे ही व्यतीत हुआ है, फिर भी देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम एवं दान आदि गार्हस्थ्य दैनिक कर्म भी इनसे अलग नहीं हुए थे। वीरमार्त्तण्ड एक सच्चे दृढ श्रद्धालु नैष्ठिक श्रावक थे। इसीलिये कहा गया है कि निश्शङ्कादिगुणपरिरक्षणैककारण ही 'गुणवं कावं', 'सम्यक्त्वरत्नाकर' एवं 'गुण-रत्नभूषण' ये उपाधियों इन्हें प्राप्त थीं। वल्कि यह श्रावक के अहिंसादि अणुव्रतों के पूर्ण परिपालक थे। अत एव 'शौचाभरण', 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि बिरुदों से भी अलंकृत रहे। साथ ही साथ चावुण्डराय एक जनप्रिय होने के हेतु 'अण्ण' जैसे बन्धुत्वसूचक सम्मानित नाम से भी पुकारे जाते थे।

इसमें शक नहीं है कि वीरमार्त्तण्ड का अन्तिम जीवन विशिष्ट धर्म-सेवन के साथ व्यतीत हुआ होगा। आचार्य नेमिचन्द्र जी जैसे महान् विद्वान् का सम्पर्क इसमे मुख्य कारण है। चावुण्डराय ने अपनी धवल कीर्त्ति को अमर बना रखने के लिये श्रवणबेलगोल जैसे प्रमुख सुप्राचीन पुण्यतीर्थ को जो चुना है, यह बड़ी ही बुद्धिमत्ता का काम है। वास्तव में इनके द्वारा स्थापित उपर्युक्त गोम्मट-मूर्त्ति से इस तीर्थ की महिमा और भी बढ़ गई हैं। इस दृष्टि से इन्हें इस पवित्र भूमि का उद्धारक कहना सर्वथा समुचित है। आजतक बराबर यह क्षेत्र जनता की नजरों से आकृष्ट रहने का एकमात्र कारण उल्लिखित गोम्मट-मूर्त्ति ही है। अन्यथा दक्षिण के कोपण आदि अन्यान्य प्राचीन क्षेत्रों के समान ऐतिहासिकदृष्टि से अन्वेषक विद्वानों के लिये ही यह स्थान एक अन्वेषणीय वस्तु मात्र रह जाता। इस पुनीत तीर्थ की अभिवृद्धि का सारा श्रेय वीरशिरोमणि चावुण्डराय को ही मिलना चाहिये। अब, सर्वप्रयत्न से उक्त इस मूर्ति की रक्षा के सम्बन्ध मे पूर्ण सचेत रहना सम्पूर्ण जैन समाज का प्रधान एवं परम कर्त्तव्य है। जैनियों को यह याद रखना चाहिये कि जब तक श्रवणबेलगोल मे यह गोम्मट-मूर्त्ति विराजमान रहेगी तभी तक इस क्षेत्र का बोलवाला रहेगा। जैनसमाज का मुख उज्ज्वल रखने के लिये यह मूर्त्ति वास्तव मे एक बहुमूल्य रत्न है। देखें, जैनसमाज इस मस्तकाभिषेक के सुअवसर पर इस मूर्ति-रक्षा की ओर कहाँ तक ध्यान देता है। मैसूर सरकार को भी इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

"कोळविदु हालुगोळनोविदु अमुर्तगोळनोविदु, गङ्गे नदिग्रो तुङ्गबद्रियो मङ्गलागौर्यां-विदु, रुन्दवनवोविदु श्रृङ्गारतोटवो। अयि अयिया अयि अयिये वले तीर्त्थं वले तीर्त्थं जया जया जया जय॥"

"यह दुग्धकुण्ड है या कि अमृतकुण्ड? यह गङ्गा नदी है या तुङ्गभद्रा या मङ्गल गौरी? यह वृन्दावन है कि विहारोपवन? ओहो! यह तो क्या ही उत्तम तीर्थ है?"

—शिलालेख नं० १२३

सोलहवीं शताब्दी के एक भक्त-हृदय से श्रवणबेलगोल जैन-तीर्थ के दर्शन करने पर उपर्युक्त शब्द-लहरी झंकृत हुई थी! श्रवणबेलगोल का श्वेत सरोवर ही मन को हरनेवाली वह चीज़ है जिस पर यात्री की आँख जाकर टकराती हैं। भक्त उसे देखकर अचरज में पड़ता है और पूछता है कि 'क्या वह दुग्धकुण्ड, अमृतकुण्ड, गङ्गा अथवा तुङ्गभद्रा है?' फिर आगे जब वह अपनी दृष्टि पसारता है और सुन्दर-सघन वनस्पति एवं बहुमूल्य मंदिर-मूर्तियों से समलंकृत शैल-शिखिर देखता हैं तो बरबस मुग्ध होकर वह फिर विस्मय से पूछता है कि 'क्या यह वृन्दावन है या विहारोपवन?' वह भूल जाता है कि वृन्दावन के पास कालिन्दी और गोवर्द्धन ज़रूर हैं, परंतु हरे-हरे सघन वृत्त-समूह वहाँ न—कहीं है। यह विशेषता श्रवणबेलगोल में है। भक्त-हृदय इन सब विशेषताओं को देखता है और अंत में कहता है—'अहा! कैसा अच्छा यह तीर्थ है!'

श्रवणबेलगोल के दर्शन करके प्रत्येक यात्री के हृदय से ऐसे ही उद्‌गार निकलते हैं। दक्षिण भारत में यह एक अनूठा स्थान हैं, जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य, प्राचीन शिल्पकला और ऐतिहासिक धार्मिकता गलबाहियां डालकर नृत्य कर रही हैं।

यहाँ के प्राचीन स्मारकों और मूर्तियों पर और भी जो लेख अङ्कित हैं वह इतिहास के लिये बड़े महत्त्व के हैं। जैन इतिहास के लिये वह खास चीज़ है। उनसे न केवल जैन मान्यता का समर्थन होता है, बल्कि कितनी ही अनूठी बातें विदित होती है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों का प्रारंभ प्रायः निम्नलिखित रूप मे हुआ मिलता है। विद्वानों का मत है कि प्राचान जैनशिलालेखों का आरंभ "स्वस्ति" और 'सिद्ध" शब्द से होता है।[1]

---

१ डरजैनिस्मस (बर्लिन) पृ० १३५।

इन शिलालेखों मे भी यह शब्द देखने के लिए मिलते हैं। यहां के प्रारंभिक नमूने यह हैं:—

(१) 'सिद्धम् स्वस्ति'[1]

(२) 'श्री'[2]

(३) 'स्वस्ति श्री'[3]

(४) 'श्री स्वस्ति'[4]

(५) 'सिद्धम्'[5]

(६) 'श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलाञ्छनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥'[6]

(७) 'श्रीमत्स्याद्वादमुद्राङ्कितममलमहोनेन्द्रचक्रेश्वरेड्य' जैनीयं शासनं विश्रुतमखिल-हितं दोषदूरं गभीरं। इत्यादि'[7]

(८) 'भद्रं भूयाज्जिनेन्द्राणां शासनायाघनाशिने।
कुतीर्थ-ध्वान्तसंघातप्रभिन्नघनभानवे॥ १॥'[8]

(९) 'श्रीजयत्यजय्यमाहात्म्यं विशासितकुशासनं।
शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्यैकशासनं॥'[9]

(१०) 'श्रीगणेशाय नमः'[10]

उपर्युक्त नं० ६, ७ आदि श्लोकों के उपरांत 'नमः सिद्धेभ्यः'—'नमो वीतरागाय'—'नमो जिनाय'—'स्वस्ति' आदि वाक्य भी मिलते हैं। लेख नं० ४३६ मे 'श्री श्री गोमटेशाय नमः' लिखा हुआ है। इनसे स्पष्ट है कि जैनशिलालेखों के आदि वाक्य उपर्युक्तरूपेण होते हैं।

यहाँ के कई शिलालेखों मे भ० महावीर के निर्वाण का संवत् भी दिया हुआ है, जिससे उस संवत् का वहु प्राचीनकाल से प्रचलित होना स्पष्ट है। लेख नं० ४५५ मे [शालिवाहन शकाब्द १७८० और वीरनिर्वाणाब्द २५५१ दिया है। इसी तरह लेख नं० ४३५ (३५५) व ४३६ (३५६) में है। इस गणना का आधार प्रकट होना आवश्यक है।

---

१ लेख नं० १ (१)।

२ नं० ३ (१२), ६ (९), ७ (२४) आदि।

३ नं० ५ (१८), २१ (२९), २३ (३८) इत्यादि।

४ नं० ३८ (५९), १४० (३५२)।

५ नं० ३५ (७६)।

६ जै० शि० सं०, पृ० २१, ३३, ४२, ४९, ५२, ६६, ८१, ८५ आदि।

७ जै० शि० सं०, पृ० ३०।

८ जै० शि० सं०, पृ० ५५—५८।

९ जै० शि० सं०, पृ० २०९।

१० जै० शि० सं०, पृ० ३३५।

दिगम्बर जैनगुरु-परम्परा का इतिहास उनके आधार से संकलित किया जा सकता है और मौर्यकाल में जैनसंघ के दक्षिण को आने की वार्ता का वह पोषण करते हैं। यहाँ के लगभग शक सं० ५७२ के लेख नं० १७-१८ (३१) में कहा गया है कि 'जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किञ्चित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया।' इसके अतिरिक्त और भी कई लेखों में ऐसा उल्लेख देखने को मिलता है। प्रो० हीरालाल जी ने इन लेखों का महत्त्व दरसाते हुए इनका संग्रह और सम्पादन "जैनशिलालेख-संग्रह" के नाम से बम्बई की प्रसिद्ध श्रीमाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला में कर दिया है। फिर भी इन लेखों को हिन्दी अनुवाद और विशेष ऐतिहासिक टिप्पणियों सहित प्रकाशित करना आवश्यक है। प्रो० साहब ने अपने संग्रह में जिन बातों पर प्रकाश डाला हैं उनको यहाँ पर दुहराना व्यर्थ है। यहाँ तो शिलालेखों के आधार से नवीन ज्ञातव्य प्रकट करना ही अभीष्ट है। अतः आगे पाठक उसी को पढ़ें।

शिलालेख में सैद्धान्तिक उल्लेख

सब से पहले शिलालेखों में प्रयुक्त हुए जैनसिद्धान्त-विषयक वाक्यों को उपस्थित करके जैनसिद्धान्त के रूप-रंग को हम पुष्ट करेंगे, किन्तु उसके पहले पाठकगण देखें कि चन्द्रगिरि के शिलालेख नं० १ (लगभग शक सं० ५२२) ही ऐसा दि० जैन शिलालेख देखने में आया है जिसमें भ० महावीर और उनके शासन का सम्पर्क विशाला (वैशाली) नगरी से दरसाया है। श्वेताम्बर-आगम-ग्रंथों मे भ० महावीर और वैशाली की घनिष्ठता का विशेष उल्लेख मिलता है। दिगम्बर जैन शास्त्र भी वैशाली को भ० महावीर की ननिहाल बताते है; परन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रकारों की तरह भ० महावीर का उल्लेख 'वैशालीय' नाम से करते हुए दिगम्बर-शास्त्रकार हमे नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त शिलालेख मे अवश्य वैसी ही कुछ ध्वनि प्रकट होती है। यह इस शिलालेख की विशेषता है। अब देखिये सैद्धान्तिक उल्लेखों को—

१ लेख नं० १ में भ० महावीर वर्द्धमान का उल्लेख करते हुए उनके केवलज्ञान का उल्लेख किया है और उसे लोकालोक-प्रकाशक तथा अर्हत्पद का विशेषण बताया है। आगे इसी लेख मे तप और समाधि की आराधना करने का उल्लेख है।

२ लेख नं० ३ (शक सं० ६२२) में पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व को हनन करने और इन्द्रियों को दमन करने का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि तब सम्यक्त्व के लिये उपर्युक्त तीन बातों का मिटना आवश्यक समझा जाता था और सम्यक्चारित्र में इन्द्रिय-दमनमुख्य था।

३ लेख नं० ७-८ (शक सं० ६२२) में 'संन्यासव्रत'-द्वारा प्राणोत्सर्ग करने का उल्लेख है। 'तत्वार्थधिगम-सूत्र' मे भगवन् उमास्वाति ने व्रतों के अन्त में मुनि और श्रावकों

को पालने के लिये 'सल्लेखनाव्रत' का विधान किया है। यहाँ पर उसी का उल्लेख 'सन्यास' नाम से हुआ है।

४ लेख नं० १७—१८ (शक सं० ५७२) में 'अशनादिका त्याग कर के पुनर्जन्म को जीतने' का उल्लेख है। जैनसिद्धान्त में संसारी जीव को भवभ्रमण करते माना गया है और अशनादि का जिसमें त्याग किया जाता है उन तपों और व्रतों को पाल कर उसके अन्त करने का भी विधान मिलता है।

५ लेख नं० २० (शक० ६२२) 'सुरलोक-विभूति' को प्राप्त करने का उल्लेख है। व्रतादि पालन का फल सुरलोक के वैभव को प्राप्त करना इससे स्पष्ट है। लेख नं० २८ (शक ६२२) से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी बारह प्रकार के तपों और व्रतों को पाल कर के सुरलोक का सुख प्राप्त करती थीं। इस लोक से परे सुरलोक का होना वह मानते थे।

६ लेख नं० २२ (शक १०२२) से 'देववन्दना' करना आवश्यक प्रमाणित होता है।

७ लेख नं० २४ (शक ७२२) से श्रावकों द्वारा 'मौनव्रत' पालने और 'दान' देने का उल्लेख है।

८ लेख नं० २६ (शक ६२२) में रूप-धन-वैभव की अनित्यता को दरसा कर 'अनित्य-भावना' का चित्रण किया गया है। संवरतत्व में अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करने का विधान भी जैनसिद्धांत में है।

९ लेख नं० २७ (शक ६२२) में आर्यिकाओं के समाधिमरण करने का उल्लेख है जिससे स्त्रियों की धार्मिकता का अनुभव होता है।

१० लेख नं० २८ (शक ६२२) में 'द्वादशतप' का उल्लेख है अर्थात् तब भी लोग अनशनादि बारह प्रकार के तपों से विज्ञ थे।

११ लेख नं० २९ (शक ६२२) में 'उत्साह और आत्मसंयम-सहित समाधिव्रत' पालने का उल्लेख है। 'मूलाचार' में उत्साह-भावना का विधान मिलता है।*

१२ सल्लेखना के लिये मृत्यु का अवश्यम्भावी ज्ञान होना आवश्यक है। लेख नं० ३२ (शक ६२२) व नं० ३३ (शक ६२२) इसी सिद्धांत के पोषक हैं। इनमें लिखा है कि 'मृत्यु का समय निकट जानकर' और 'अब मेरे लिए जीवन असंभव है' यह कह कर मुमुक्षुओं ने सल्लेखना व्रत आराधा। लेख नं० ३८ (शक ८९६) में तीन दिन तक सल्लेखना पालने का उल्लेख है और लेख नं० ४४ से स्पष्ट है कि सल्लेखनाव्रत में एक करवट में लेटने और पंचनमस्कारपद का उच्चारण करना भी प्रचलित था।

१३ लेख नं० ३८ (शक सं० ८९६) में 'धर्म्ममङ्गल' को नमस्कार करने का उल्लेख है। प्राचीन नमस्कार मंत्र में 'चत्तारि मंगलं' से 'धर्म्म-मङ्गल' भी एक बताया गया है। (केवलिपण्णत्तो धम्मो-मङ्गलं)।

---

* उ-च्छाह भावणाम पसम सेवा सुदसणो सद्दा। इत्यादि

१४ अनादि पंचणमोकार मंत्र का उल्लेख 'पंचनमस्क्रिया'-रूप में लेख नं० ४१ (शक सं० १२३५) और लेख नं० ४४ (शक सं० १०४३) में 'पंचपद' रूप मे है।

१५ लेख नं० ४१ (शक १२३५) में माया (शल्य), जैनमार्गप्रभाव (प्रभावना), कोपादि (कषाय), आर्त और रौद्र परिणामों का उल्लेख है।

१६ लेख नं० ४२ (शक १०९९) मे 'सप्त महाऋद्धियों' और 'चारणऋद्धि' का उल्लेख है।

१७ उपर्युक्त लेख में आगे 'शल्यत्रय'—'गारवत्रय'—'दंडत्रय' का उल्लेख है। माया-मिथ्या-निदान तीन शल्य है। मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड, यह तीन दण्ड है। तीन गारव से क्या भाव है, यह गवेषणीय है।*

१८ लेख नं० ४३ (शक १०४५) मे मुनियों की जीवदया वृत्ति, जैन सिद्धांत राद्धान्त) पारंगत और वात्सल्य गुण का उल्लेख है। इसी लेख मे पंचेन्द्रियदमन का भी उल्लेख है।

१९ उपर्युक्त लेख में आगे विष्णुवर्द्धन नरेश की मावज जयक्कणव्वे की धार्मिकता का परिचय कराते हुए श्राविकाओं द्वारा जिनपूजा करने, सत्य व शीलव्रत पालने, गुरुभक्ति करने और विनय धर्म को पालने का उल्लेख है। उन्हें 'भव्यर्क' कहा है।

२० लेख नं० ४४ (शक १०४३) में श्रावक की दैनिक चर्या का वर्णन श्रावक मार का चित्रण करते हुए किया गया है। जिनपूजा करना, जिनेन्द्र की वंदना करना, मुनिजनों की निकटता मे मन लगाना, सारा समय जिनमहिमा के प्रसारित करने में खर्च करना और दान देना श्रावक का महान् कर्तव्य है। आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र इस प्रकार दान चार तरह का बताया है। इन दानों का अन्य लेखों मे भी उल्लेख है। पूजा मे अर्चन और अभिषेक दोनों सम्मिलित थे।

२१ लेख नं० ५६ (शक १०३७) मे विनय, सत्य, शौच, वीर्य, शौर्य और सर्वसंग-परित्याग धर्मों का उल्लेख है।

२२ लेख नं० ४७ (शक १०३७) में परीषह, दशलक्षणोत्तम महाधर्म्म और आत्म-संवेदन गुण का उल्लेख है। इसी लेख मे आगे शील, समिति, गुप्ति, दण्ड, शल्यादि का भी उल्लेख है। 'रत्नत्रय' धर्म संसारसागर से पार पहुंचने के लिए पोत बताया है। इसी में आचार्य के 'षट्त्रिंशद्गुणों' का उल्लेख है। और शब्दविद्या, तर्कविद्या एवं सिद्धांतविद्या के पारगामी को 'त्रैविद्य' घोषित किया है। इसी मे 'पल्यङ्कासन' और 'उत्तमपात्रदान (मुनिदान) का उल्लेख है।

* 'गारव' इच्छार्थक शब्द है। गारवत्रय ये हैं—(१) ऋद्धिगारव (२) रसगारव (३) सातगारव। (भगवती आराधना) —के० बी० शास्त्री

२३ लेख नं० ५२ (शक १०४१) मे पंच महाकल्याण, अष्ट महाप्रातिहार्य और चतुस्त्रिंशद् ।अतिशयों से ।मण्डित अर्हद्भगवान् का उल्लेख है, जिनके मुख-कमल से सदसन्निरूपक जिनवाणी निर्गत हुई थी।

२४ लेख नं० ५३ (शक १०५०) मे 'पण्डितमरण' का उल्लेख है।

२५ लेख नं०८० (शक १०८०) व नं० ८६ मे अष्टविधार्चन और मुनि-आहार का उल्लेख हैं। इन धर्मकार्यों के लिये धर्मात्मा पुरुष दान किया करते थे।

२६ लेख नं० ८२ (शक १३४४) मे पंच पापों से दूर रह कर देशव्रतों को पालने तथा सुपात्रों को दान और दीन-जनों को करुणादान देने का उल्लेख है। (हिंसानृतान्यवनिताव्यसनं सचौर्य्यं, मूर्च्छा च देशवशतोऽस्य बभूव दूरे ।। दानं चास्य सुपात्र एव करुणा दीनेषु, इत्याद)

२७ लेख नं० ९३ (शक ११९७) मे पुष्पमालायें नित्य चढ़ाने का उल्लेख है। और नं० ९४ मे गोम्मट के अभिषेक के लिए दुग्धदान का उल्लेख है। नं० ९५ में गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए दान देने का उल्लेख है।

२८ लेख नं० १०५ (शक १३२०) में अंग-पूर्वगत जिनवाणी का उल्लेख है। इसा लेख में श्वेताम्बरादि विपरीत मतों का उल्लेख है। (सिताम्बरादौ विपरीतरूपे खिले विसंघे वितनोतु भेदं)

२९ लेख नं० ११३ (शक १०९९) मे उभय-नय, त्रिदण्ड, त्रिशल्य, चतु:कषाय, चतुर्विध उपसर्ग गिरिकंदरादिक आवास, पंद्रह प्रमाद, पंचाचार—वीर्याचार, षट्कर्म, सप्तनय, अष्टाङ्गनिमित्तज्ञान, अष्टविधज्ञानाचार, नवविधब्रह्मचर्य, दशधर्म, एकादशश्रावकाचार—देशव्रताचार, द्वादशतप, द्वादशाङ्गश्रुत, त्रयोदशाचार, शीलगुण, जीव-भेद (विज्ञान), जीवदया और चतु:संघ का उल्लेख है।

३० उपर्युक्त लेख मे ही अनेक आचार्यों, कलियुग के गणधर, पचास मुनीन्द्रों, आर्यिकाओं और अट्ठाइस संघों द्वारा एकत्रित होकर पञ्चकल्याणोत्सव मनाने का उल्लेख है।

३१ लेख नं० ४१३ व ४१४ मे विजयधवल और जयधवल के नाम है; जो संभवत: सिद्धांतग्रन्थों के द्योतक हैं।

उपर्युक्त सैद्धांतिक उल्लेखों का सामञ्जस्य प्रचलित जैनसिद्धांत से है और यह उसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट करता है।

धार्मिक उदारता

अब आगे पाठकगण देखें कि उस समय जैनसिद्धांत को माननेवाले कितना उदार धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि रखते थे। वह लोक से मिथ्यात्व को मिटा कर सम्यक्त्व का आलोक फैलाने में दत्तचित्त थे—जीवमात्र के प्रति उनके हृदय मे करुणा का भाव था। तत्कालीन जैन

संघ में चतुर्वर्ण के लोग सम्मिलित थे। लेख नं० ४२ (शक १०९९) मे चतुर्वर्ण को दान देने का उल्लेख है। लेख नं० १०२ (शक १४५९) मे चेन्नय्यमाली के दान देने का उल्लेख है। और तो और नृत्यकारिणी मंगायि को भी धर्माराधना का पूर्ण अवसर प्राप्त था। वह श्रीमद् अभिनव चारुकीर्त्ति पण्डिताचार्य की शिष्या और सम्यक्त्वाद्यनेक-गुण-गणाभरण-भूषित थी। उसने 'त्रिभुवनचूड़ामणि' नामक चैत्यालय निर्माण कराया था, जो आज भी बेलगोल में एक दर्शनीय वस्तु है। (देखो लेख नं० १३२)। एक अन्य लेख से सुनार जातीय भक्त के सल्लेखनाव्रत धारने की वार्त्ता स्पष्ट होती हैं। स्त्रियों को तो धर्माराधना की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। सारांशतः प्रत्येक भव्य जीव को तब के जैनसंघ मे धर्म की आराधना करने के लिये सुअवसर प्राप्त था। साथ ही साम्प्रदायिक विरोध भी कभी-कभी तो नहीं के बराबर देखने को मिलता हैं। सम्राट् विष्णुवर्द्धन वैष्णव हो जाते हैं, परन्तु उस पर भी वह जैन मंदिरों को दान देते है। उनकी पट्टरानी शान्तल देवी जीवनपर्य्यन्त जैनधर्मानुयायिनी रही थीं और अनेक जिनमंदिरों को दान देती रही थीं। होय्सल नरेश बल्लाल द्वितीय के मंत्री चन्द्रमौलि वेदानुयायी ब्राह्मण थे, परन्तु उनकी भार्या आचियक्क जिनधर्मावलम्बिनी क्षत्रियाणी थी। उन्होंने बेलगोल मे पार्श्वनाथबस्ति का निर्माण कराया था। लोगों में धार्मिकता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने दानधर्म का पुण्यफल दूसरों के देने का संकल्प करते थे। लेख नं० १०० में चिक्कण्ण ने चौडिसेट्टि को एक 'धर्मसाधन' दिया था, क्योंकि उन्होंने उसे कष्टमुक्त किया था। यही बात लेख नं० १०१ से प्रकट होती है। किन्हीं लेखों के अन्त में दान की रक्षा के लिये काशी—रामेश्वर और कुरुक्षेत्र मे कपिलादि गाय और ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगने का उल्लेख धार्मिक-सहिष्णुता का द्योतक है।*

जैनों की वीरता

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में जहाँ एक ओर धार्मिक उदारता के दिग्दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर जैनों की वीरता के अपूर्व दर्शन भी मिलते हैं। इस वीरता के दो अलग क्षेत्र वहाँ दिखाई पड़ते हैं। एक ओर कर्मवीर हैं तो दूसरी ओर धर्मवीर। कर्मवीर अन्ततः धर्मवीर बनते मिलते हैं। इन वीरों का पूर्ण परिचय लिखने के लिये इस अंक के पृष्ठ शायद ही पर्याप्त हों। सम्राट् मारसिंह, सम्राट् इन्द्र, सम्राट् राचमल्ल, वीरवर चामुण्डराय, दण्डाधिप गङ्गराज, मंत्रिप्रवर हुल्ल प्रभृति अगणित नरपुंगव ऐसे हैं जो कर्मवीर और धर्मवीर दोनों थे। उन्होंने रणक्षेत्र में तलवार के जौहर दिखाये तो धर्मक्षेत्र मे जैनाचार्यों के चरण कमलों में धर्माराधना करके सल्लेखना-व्रत-द्वारा प्राणोत्सर्ग किये! जैनवीरता के पोषक कतिपय उदाहरणों

* देखो—'जैनशिलालेख-संग्रह' पृष्ठ १६१।

को उपस्थित करना ही पर्याप्त है :—

१ "जब चोलुक्य नरेश की सेना कन्नेगल की छावनी में पड़ाव डाले हुई थी उस समय महान् मन्त्री और दंडनायक गङ्गराज यह कहते हुये कि 'चलने दो' घोड़े पर सवार हो गये, बिना इस बात की परवाह किये कि रात में युद्ध करना होगा वह सरपट बढ़े चले गये और अपनी तलवार से भयभीत शत्रु-सेना को आतुर बना दिया। मानो यह उनका खिलवाड़ था—उन्होंने सब ही राजाओं को परास्त किया और उनकी सारी युद्ध-सामग्री और वाहनों को लाकर अपने प्रभु के सामने रख दिया। होय्सल-नरेश ने कहा—'मैं प्रसन्न हूं—प्रसन्न हूं तुम्हारे भुज-विक्रम से। मांगो, जो वर चाहो!' इस महती कृपा को पाकर भी गंगराज ने धन सम्पत्ति की इच्छा नहीं की—उनका मन तो जिनेन्द्र की पूजा में पगा हुआ था। उन्हों ने परमनामक ग्राम होय्सल-नरेश से प्राप्त करके जिन-पूजा के लिये अपनी माता पाचाल देवी और पत्नी लक्ष्मी देवी-द्वारा निर्मित जिनालयों को दान कर दिया!" (ले० नं० ४५)

२ वीरगल्लु (लेख) न० ६१ (शक ८७२) से प्रकट है कि पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी रणाङ्गण मे निज शौर्य प्रकट करके वीरगति प्राप्त करती थीं। इस वीरगल्लु मे लोकविद्याधर और उसकी पत्नी सावियव्वे का परिचय कराया गया है। कन्नड-भाषा के कुछ वाक्य देखिये—

"श्री युवतिगे निज-विजय-श्री-युवतिये सवति येनिसे . . . .
श्रावक-धर्मदोळ् दोरेयेनल् पेररिल्लेने सन्द रेवति-श्रावकि ताने सज्जनिकेयोळ् जनकात्मजे ताने रूपिनोळ्ळ्-देवकि ताने पेम्पिनोळ्रुन्धति ताने जिनेन्द्र-भक्ति-सद्-भावदे सावियव्वे जिन-शासन देवते ताने काणिरे॥ इत्यादि।"

सावियव्वे रेवती, देवकी, सीता, अरुन्धती आदि सदृश रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया थी। वह पक्की श्राविका (जैनी) थी—जिनभगवान् मे उसकी शासन देवता के सदृश भक्ति थी। वह सती अपने पति के साथ 'बागेयूर' के युद्ध मे गई और वहाँ लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुई। लेख के ऊपर जो चित्र खुदा है उसमे वह स्त्री घोड़े पर सवार हुई हाथ मे तलवार लिए हुये एक हाथी पर सवार वीर का सामना करती हुई चित्रित की गई है। हाथी पर चढ़ा हुआ पुरुष इस वीराङ्गना पर वार कर रहा है! यह थी उस समय की जैन युवतियों की वीरता!

३ लेख नं० ६० भी एक 'वीरगल्लु' अर्थात् वीरगति को प्राप्त हुए वीर का स्मारक है। उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणि के वीर योद्धा 'वद्देग' के शौर्य का बखान है। 'युद्ध मे इसने ऐसी वीरता दिखाई कि जिसकी प्रशंसा उसके विपक्षियों ने भी की थी।'

साहित्य-कला

श्रवणबेलगोल के अधिकांश शिलालेख कन्नड और संस्कृत-भाषा में हैं। मारवाड़ी-हिन्दी मे भी कुछ शिलालेख हैं। साहित्य में कला की दृष्टि से उनमे से कई उल्लेखनीय हैं। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' आदि इतिहास और साहित्य दोनों के लिये उपयोगी है। कुछ नमूने देखिये:—

(१) "स्वस्ति समस्त-भुवन-स्तुत्य-नित्य-निरवद्य-विद्या विभव-प्रभाव-प्रह्वरुह्वरीपाल-मौलि-मणि-मयूख-शेखरीभूत-पूत-पद-नख-प्रकररुं। जितवृजिनजिनपतिमतपयपयोधिलीला-सुधा कररुं। .... शरदमलशशधरकरनिकरनीहारहाराकारानुवर्त्तिकीर्त्तिवल्लीवेल्लितदिगन्तरालरु मप्पश्रीमन्महामण्डलाचार्य्यरु श्रीमद्देवकीर्त्तिपण्डितदेवरु।"

(लेख नं० ३९)

(२) "स्वस्तिनिस्तुषाति-जितवृजिन-भाग-भगवदर्हदर्हणीयचारुचरणारविन्दद्वन्द्वानन्दवन्दन-वेलाविलोकनीयाक्ष्मायमाण-लक्ष्मीविलासेयुं। अपहसनीयस्वीयजीवितेशजीवितान्यजीवन-विनोदानारत-रतरतिविलासेयुं। कालेयकालरादसरचा-विकलसकलवाणिजन्नाणाति-प्रचण्डचामुण्डातिश्रेष्ठराजश्रेष्ठिमानसराजमानराजहंसवनिताकल्पेयुं।" इत्यादि—

(लेख नं० ४९)

यह तो हुआ मनोहर गद्य; किन्तु ज़रा पद्यों को भी देखिये:—

(१) 'विहितदुरितभङ्गा भिन्नवादीभशृङ्गा वितत-विविधमङ्गाः विश्वविद्याब्जभृङ्गाः।
विजितजगदनङ्गा वेशदूरोज्ज्वलाङ्गा विशदचरणतुङ्गा विश्रुतास्तेऽस्तसङ्गाः ॥३०॥"

(लेख नं० १०५)

(२) "उद्दीप्त-दुःख-शिखि-सङ्गतिमङ्गयष्टिं
तीव्राजवाञ्जव-तपातप-ताप-तप्तां।
स्रक्-चन्दनादि-विषयामिष-तैल-सिक्तां
को वावलम्ब्य भुवि सञ्चरितप्रबुद्धः ॥६६॥

(लेख नं० १०८)

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र आदि के भी उल्लेखनीय नियमों की उपलब्धि होती है। रसिकजन उनका वहां से पाठ करें। सारांशतः भ० बाहुबली की विशाल-विभूति का धर्ममय प्रभाव वहां चहुंओर छिटक रहा है। धन्य हैं वे जो उनके दर्शन करके अपना जीवन सफल करते हैं। इति शम्।

गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिका गिरवी रक्खा जाना

[लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार]

जो लोग भगवान्‌का पूजा करके आजीविका करते है—पूजनके उपलक्षमें वेतन लेते अथवा दक्षिणा, चढ़ावा या उपहार ग्रहण करते हैं—उनमें प्राय: धर्मका भाव बहुत ही कम पाया जाता है। यही वजह है कि समय-समयपर उनके द्वारा तीर्थादिकों पर अनेक अत्याचार भी हुआ करते हैं। वे लोग ज़ाहिरमे अपने अंगोंको चटका-मटका कर बहुत कुछ भक्तिका भाव दिखलाते हैं और यात्रियोंपर उस देव तथा तीर्थके गुणों का ज़रूरतसे अधिक बखान भी किया करते हैं; परन्तु वास्तवमे उनके हृदय देवभक्ति तथा तीर्थभक्तिके भावसे प्राय: शून्य होते हैं। उनका असली देव और तीर्थ टका होता है। वे उसीकी उपासना और प्राप्तिके लिये सब कुछ करते हैं। यदि उनको अवसर मिले तो वे उस देवतीर्थकी सम्पत्तिको भी हड़प जानेमे आनाकानी नहीं करते! ऐसे लोगोके हृदयके क्षुद्र भावों और दीनताभरी याचनाओंको देखकर चित्तको बहुत ही दु:ख होता है और समाजकी धार्मिक रुचिपर दो आँसू बहाये विना नहीं रहा जाता।

यह दशा केवल हिन्दू-तीर्थोंके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं, बल्कि जैनियोंके बहुतसे तीर्थोंके पण्डे-पुजारियोंकी भी प्राय: ऐसी ही अवस्था देखनेमे आती है। श्रवणबेलगोल-सम्बन्धी मेरी तीन महीनेकी यात्रामे मुझे इस विषयका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है। उस समय तारंगा तीर्थका पुजारी अपने फटेपुराने कपड़ोको दिखलाकर यात्रियोंसे भीख माँगता था। श्रवणबेलगोलमे, जिसे जैनबद्री भी कहते है, छत्तीसघर पुजारियोंके हैं। परन्तु यदि वहाँके मन्दिरोंकी हालतको देखा जाय तो दाँतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है। जगह-जगह कूड़ा-कर्कटका ढेर लगा हुआ है। बहुतसे मन्दिरोंके गर्भ-गृहोंमेसे इतना दुर्गन्धि आती है कि वहाँ ठहरा नहीं जाता! नगरमे और पर्वतोंपर अधिकांश मन्दिर ऐसे है जिनमे नित्य क्या, महीनों और वर्षोंमें भी प्रतिमाओंका प्रक्षालन नहीं होता। आठ दिन ठहरने पर भी, पुजारियोंकी कृपासे नगरके दो तीन मन्दिर दर्शनोंके लिये खुल नहीं सके। इतने पर भी "पूजन कब कराओगे, गोम्मटस्वामीका खास पुजारी मैं हूं, दान या इनाम मुझे ही देना, हम आपकी आशा लगाये हुए हैं," इत्यादि दीन वचन पुजारियोंके मुखसे बराबर सुननेमे आते थे। इससे पण्डे-पुजारियोंकी धर्मनिष्ठाका बहुत कुछ अनुभव हो सकता है। यह धर्मनिष्ठा आजकलके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं बल्कि आजसे कई शताब्दियों पहलेके पण्डे-पुजारियोंकी भी प्राय: ऐसी ही धर्मनिष्ठा पाई जाती है, जिसका अनुभव पाठकोंको सिर्फ इतने परसे ही हो जायगा

कि इन पुजारियोंके पूर्वजोंने श्रवणबेलगोलके गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिको एक समय महाजनोंके पास गिरवी अर्थात् रहन (mortgage) रख दिया था! लगभग तीन सौ वर्ष हुए जब शक सम्वत् १५५६ आषाढ़ सुदी १३ शनिवारके दिन मैसूरपट्टनाधीश महाराज चामराज वोडेयर अय्यके सदुद्योगसे ये सब रहन छूटे हैं। श्रवणबेलगोलमें इस विषयके दो लेख हैं, एक नं० १४० जो ताम्रपत्रों पर लिखा हुआ मठमें मौजूद है और दूसरा नं० ८४ जो एक मण्डपमें शिलापर उत्कीर्ण है। वे दोनों लेख कन्नड भाषामें हैं। पाठकोंके ज्ञानार्थ उनका भावार्थ *नीचे प्रकाशित किया जाता है:—

लेख नं० १४०

श्रीस्वस्ति। शालिवाहन शक १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दिन, ब्रह्मयोगमें—

श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, अरिरायमस्तकशूल, शरणागतवज्रपंजर, परनारी-सहोदर, सत्यागपराक्रममुद्रामुद्रित, भुवनवल्लभ, सुवर्णकलशस्थापनाचार्य, धर्मचक्रेश्वर, मैसूर-पट्टनाधीश्वर चामराज वोडेयर अय्य—

पुजारियोंने, अपनी अनेक आपत्तियोंके कारण, बेल्गोलके गोम्मटनाथ स्वामीकी पूजाके लिये दिये हुए उपहारों (दान की हुई ग्रामादिक सम्पत्ति) को वणिग्गृहस्थोंके पास रहन (बंधक) कर दिया था, और रहनदार लोग (बंधकग्राही—mortgagees) उन्हें हस्तगत किये हुए बहुत कालसे उनका उपभोग करते आ रहे थे—

चामराज वोडेयर अय्यने, इस बातको मालूम करके, उन वणिग्गृहस्थोंको बुलाया जिनके पास रहन थे और जो सम्पत्तिका उपभोग कर रहे थे और कहा कि—"जो कर्ज़ेजात (ऋण) तुमने पुजारियोंको दिये है उन्हे हम दे देवेंगे और ऋणमुक्तता कर देवेंगे।"

इस पर उन वणिग्गृहस्थोंने ये शब्द कहे—"हम उन ऋणोंका, जो कि हमने पुजारियोंको दिये हैं, अपने पिताओं और माताओंके कल्याणार्थ, जलधारा डालते हुए दान करेंगे।"

उन सबके इस प्रकार कह चुकने पर,—वणिग्गृहस्थोंके हाथोंसे, गोम्मटनाथ स्वामीके सम्मुख, देव और गुरुका साक्षीपूर्वक, यह कहते हुए कि—"जब तक सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं तुम देवकी पूजा करो और सुख से रहो—" यह धर्मशासन पुजारियोंको, ऋणमुक्तता के तौर पर, दिया गया।

बेल्गोलके पुजारियोंमे आगामी जो कोई उपहारोंको रहन रक्खेगा, या जो कोई उनपर रहन करना स्वीकार करेगा वह धर्मबाह्य किया जायगा और उसका ज़मीन तथा जायदाद-पर कुछ अधिकार नहीं होगा।

---

*यह भावार्थ मिस्टर बी० लेविस राइस साहब के अंग्रेजी अनुवाद पर से लिखा गया है। कहीं-कहीं चामराज के विशेषणादि सम्बन्ध में मूल से भी सहायता ली गई है।

यदि कोई मनुष्य इस विज्ञप्तिका उल्लंघन करके, रहन रक्खेगा या रहन स्वीकार करेगा, तो वे राजा जो इस राष्ट्रपर राज्य करेंगे इस देवके स्वत्वोंको पूर्वरीत्यनुसार सुरक्षित रक्खेंगे।

जो कोई राजा इस कर्तव्यसे अनभिज्ञ रहकर उपेक्षा धारण करेगा उसे वाराणसीमें एक हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके बध करनेका पाप लगेगा।

इस प्रकार धर्मशासन लिखा गया और दिया गया। मंगलमहाश्री। श्री॥ श्री॥

लेख नं० ८४

श्रीशालिवाहन शक वर्ष १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दिन ब्रह्मयोगमें; श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, मैसूरपट्टनाधीश्वर, षट्दर्शनधर्मस्थापनाचार्य, चामराज वोडेयर अय्य,—बेलगोलके मन्दिरकी ज़मीनें बहुत दिनोंसे रहन थीं,—उक्त चामराज वोडेयर अय्यने होसबोललु केम्पप्पके पुत्र चन्नएण बेल्गुल पायि सेट्टिके पुत्रों चिक्कएण और जिग-पायि सेट्टि नामके रहनदारों तथा दूसरे रहनदारोंको बुलाकर, कहा कि "मैं तुम्हारे रहनका रुपया अदा कर दूंगा।"

इस पर चन्नएण, चिक्कएण, जिगपायि-सेट्टि मुद्दएण, अज्जएणन पदुमप्पएणका पुत्र पण्डेएण, पदुमरसय्य, दोड्डएण, पंचवाणकविका पुत्र बोम्मप्प, बोम्मणकवि, विजयएण, गुम्मएण, चारु-कीर्ति, नागप्प, वेडदय्य, बोम्मि सेट्टि, होसहळ्ळिय रायएण, परियएण गौड, वैर सेट्टि, बैरएण, वीरय्य, नामके इन सब वणिकों और क्षेत्रपतियोंने, अपने पिताओं और माताओंके कल्याणार्थ गोम्मटस्वामीकी मौजूदगीमें और अपने गुरु चारुकीर्ति पंडितदेवके सम्मुख, जलधारा डालते हुए वंधकग्राहियोंके (?) मंदिरनिरीक्षकोंको रहननामे (mortgage bonds) दे दिये और यह शिलाशासन रहनोंके छूटनेका लिख दिया। (शाप—काशी रामेश्वरमें एक हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके मारनेका पाप)। श्री श्री।

———

महाबाहुबलिर्हुबली

(रचयिता—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण)

आराध्यदेवमभिवन्द्य बुधोत्तमानाम् ।
श्रीदोर्बलीशचरितं कथयामि भक्त्या ।
श्रुत्वा त्रिलोकविनुतं चरितं यदत्र ।
मुञ्चन्ति कर्मरजसो भुवि भव्यजीवाः ॥ १ ॥

अस्त्यत्र भारते वर्षे जम्बूद्वीपस्य भूषणे ।
कोशलाख्यो महादेशः सर्वसद्गुणमण्डितः ॥ २ ॥

आसीत्तत्र पुरे रम्ये नाभिराजो महामनुः ।
नृपसद्गुणसम्पन्नो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३ ॥

नियुज्य वृषभं राज्ये वृषदं वृषनायकम् ।
स राजा विरतिं प्राप गुरुसाम्राज्यभारतः ॥ ४ ॥

आस्तां तस्य सुनाथस्य वृषभस्य महात्मनः ।
यशःस्वतीसुनन्दाख्ये पत्न्यौ शीलसुशोभने ॥ ५ ॥

सम्बभूवुर्यशस्वत्याः सूनवो भरतादयः ।
पुत्री ब्राह्मी च सञ्जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥ ६ ॥

सुनन्दापि प्रलेभे हि वीरं बाहुबलं सुतम् ।
पुत्रीं च सुन्दरीमेवं सुशीलगुणभूषिताम् ॥ ७ ॥

मत्वा सकलसाम्राज्यमेकदा नश्वरं ध्रुवम् ।
स राजा चिन्तयामास सर्वं हेयं विवेकिनाम् ॥ ८ ॥

एवं विचिन्त्य तत्सर्वं त्यक्तराज्यो महीपतिः ।
बभार जिनदीक्षां तां लोकद्वयसुखावहाम् ॥ ९ ॥

दीक्षोन्मुखेन तातेन प्रदत्ता प्रमुखा मही ।
सुजेष्ठाय सुयोग्याय भरताय विवेकिने ॥ १० ॥

एवमन्यान्यपुत्रेभ्यो दत्तं राज्यं सुवेधसा ।
सुयोग्यसम्पदं प्राप्य सर्वेऽपि सुखिनोऽभवन् ॥ ११ ॥

नृपस्तावत्समीपस्थान् देशयामास संमुदा ।
भुक्तेयं पृथ्वी मान्याः ! असकृद्बहुजन्मसु ॥ ३८ ॥

तस्मादिदं निजं राज्यं ध्रुवमुच्छिष्टवन्मतम् ।
नातोऽहं प्रतिगृह्णामि दुःखदां राज्यसम्पदम् ॥ ३९ ॥

विनश्वरशरीरेण लभ्यते यदि शाश्वतम् ।
सौख्यं तत्प्राप्तये लोके यत्नं कुर्वीत सर्वदा ॥ ४० ॥

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं यन्मया बहुयोनिषु ।
त्यज्यते मोक्षसौख्याय नश्वरं सौख्यमैन्द्रियम् ॥ ४१ ॥

इत्थं विबोध्य तत्रस्थान् प्राज्ञो बाहुबली मुदा ।
अग्रजं प्रार्थयामास क्षमस्वेति पुनःपुनः ॥ ४२ ॥

स्वयञ्च क्षमतामेत्य नैजं राज्यं स्वसूनवे ।
दत्त्वा सत्वरमापेदे दीक्षां तां जिनप्रोदिताम् ॥ ४३ ॥

सोऽयं बाहुबली स्वामी पुष्यान्मम समीहितम् ।
येन कर्मेन्धनं दग्धं शुक्लध्यानोग्रवह्निना ॥ ४४ ॥

अन्यत्र प्रकाशित ये संस्कृत पद्य जैनेतर संस्कृतज्ञ विद्वानों को श्रीबाहुबलीजी की पौराणिक जीवनी की रूप-रेखा का परिचय कराने के उद्देश से ही यहां पर दिये गये हैं। विद्वद्गण इन्हे आलङ्कारिक दृष्टि से न देखें।

—रचयिता

भास्कर
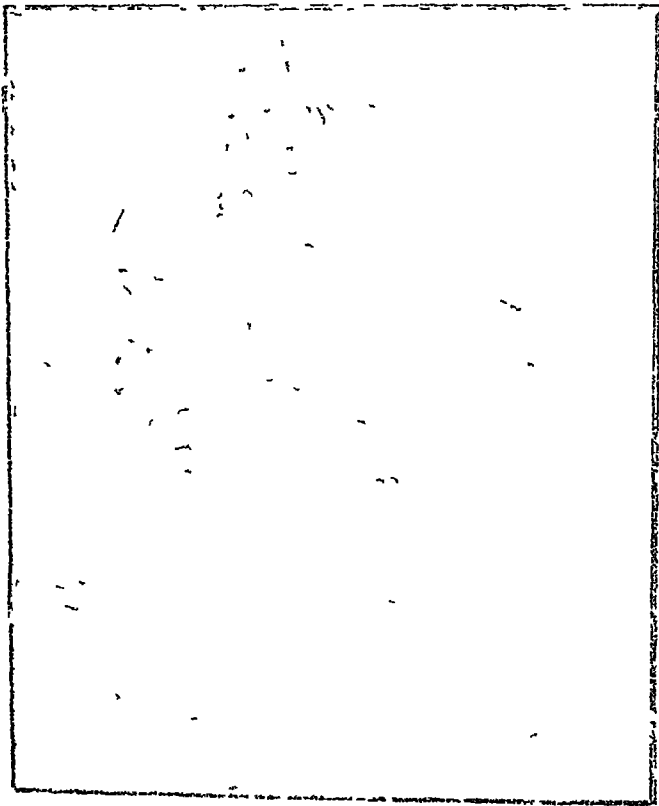
श्रवणबेल्गोलस्थ एक यक्षी की मूर्ति

दक्षिण भारत के जैन वीर

[लेखक—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

अहिंसा का सिद्धान्त जैनमत की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव मे इसी सिद्धान्त की नींव पर जैनमत स्थित है। लेकिन इस सिद्धान्त को विदेशी और कतिपय देशी इतिहासकारों ने जो भारत की अधोगति का कारण माना है, वह मिथ्या है। अन्य मतावलम्बियों की बात तो दूर, स्वयं अहिंसाव्रतावलम्बी जैनों ने ही कर्मक्षेत्र में जिस कर्तव्यपरायणता का उदाहरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। जहाँ जैन साधुओं ने अहिंसाव्रत को तपस्या की सीढ़ी तक पहुंचा दिया है, वहाँ कर्म-क्षेत्र मे निरत रहनेवाले जैनों ने उसे कर्मयोग की दृष्टि से देखा और समझा है। देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के समय उन्होंने अहिंसा को कभी अपने मार्ग की वाधा नहीं होने दिया है। जिन जैन वीरों के हाथ में प्रजापालन और देश-रक्षा का भार आया था, उन्होने अहिंसा मे कर्म को देखा और कर्म में अहिंसा को। कर्म के दर्शन में उन्होंने अहिंसा-दर्शन को घुला-मिला दिया और अहिंसा की आड़ मे भीरुता को छिपानेवालों के आगे मार्ग-प्रदर्शक का काम किया। आज हम दक्षिण भारत के कुछ ऐसे ही जैन वीरों का इतिहास उपस्थित करते हैं।

चामुण्डराय

जैन-इतिहास में चामुण्डराय का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। वे केवल वीर ही नहीं वड़े भारी कवि भी थे। 'चामुण्डराय-पुराण' (जिसका समय ९७८ ई० माना जाता है) उन्हीं-की कृति है। ये कर्णाटक के रहनेवाले थे। ये गंगवंश के राजा मारसिंह और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राचमल्ल के दरबार में थे। चामुण्डराय ने अपनेको 'ब्रह्मक्षत्र' जाति का वतलाया है, इसीलिये उनकी एक उपाधि 'ब्रह्मक्षत्र-शिखामणि' भी है।

पता चलता है कि उनके गुरु प्रसिद्ध अजितसेन थे। लेकिन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का भी उनपर काफी प्रभाव पड़ा था। नेमिचन्द्र ने अपनी रचना 'गोम्मटसार' मे चामुण्डराय की वड़ी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त कन्नड कवि, चिदानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिवंशाभ्युदय' में नेमिचन्द्र को चामुण्डराय का गुरु वतलाया है।

जिस युग में चामुण्डराय हुए थे, वह गंगवंश के राजाओं के लिए बड़ी मुसीवत का था। वे चारो ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये और अपनी उन्नति के लिए उन्हे निरन्तर युद्ध करना पड़ा, और इसमे सन्देह नहीं कि इन युद्धों के संचालक चामुण्डराय ही थे।

चामुण्डराय के समय में गङ्गराज मारसिंह पर 'नोलंबों' ने चढ़ाई की; लेकिन 'गोनूर' के मैदान में चामुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्नभिन्न कर दिया। 'चामुण्डराय-पुराण' से पता चलता है कि इस वीरता के लिए चामुण्डराय 'वीरमार्त्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किये गये। ब्रह्मदेव के स्तम्भलेख से मालूम होता है कि इस विजय के अवसर पर स्वयं मारसिंह ने 'नोलंब-कुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा संकट पश्चिमी चालुक्यों की ओर से था। मारसिंह के ही समय में पश्चिमी चालुक्यों ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिंह के पुत्र राचमल्ल के समय में चामुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि 'उच्चंगि' के दुर्जय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। इस दुर्ग को जीतना एक प्रकार से असम्भव ही माना जाता था। कुछ समय पहले 'काडुवेदी' ने इस किले का घेरा डाला था, पर बहुत दिनों तक घेरा डालने पर भी वह इसे वश में नहीं ला सका था। लेकिन चामुण्डराय के आगे इस दुर्ग की दुर्जयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से (जो ९७४ ई० का है, और जो श्रवणबेलगोल में पाया गया था) पता चलता है कि चामुण्डराय ने इस किले को विध्वस्त कर संसार को आश्चर्य्य में डाल दिया। स्वयं चामुण्डराय की कृति, 'चामुण्डराय-पुराण' से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखते हैं कि 'उच्चंगि' के किले को वीरता-पूर्वक हस्तगत करने के कारण उन्हे 'रणरंगसिंग' की उपाधि मिली थी। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से मालूम होता है कि 'रणसिंग' राजादित्य की उपाधि थी। इस प्रकार चामुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसकी उपाधि धारण की थी। स्वयं राचमल्ल ने इस विजयोपलक्ष मे 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसकी वजह से चामुण्डराय ने 'समर-धुरंधर' की उपाधि पाई, 'खेडग' का युद्ध है। इस युद्ध में उन्होंने वजवलदेव (वज्जल) को परास्त किया था। इसका वृत्तांत 'चामुण्डराय-पुराण' मे मिलता है। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख मे भी इसका उल्लेख है।

उक्त पुराण के अनुसार चामुण्डराय ने 'बागयूर' दुर्ग के 'त्रिभुवनवीर' नामक एक सरदार को मारकर 'वैरिकुलकालदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, बास, सिवर, कुणांक आदि सरदारो को 'काम' नामक राजा के दुर्ग मे मारकर 'भुजविक्रम' की उपाधि प्राप्त की। मदुराचय ने, जो 'चलदंक गंग' और 'गंगरभट्ट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चामुण्डराय के छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था। चामुण्डराय ने उसे मारकर भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि चलदंक-गंग ने गङ्ग-राज-सिंहासन पर अधिकार जमाना चाहा था। चामुण्डराय ने उसके प्रयास को निष्फल करके उसका नाश किया और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उन्हे

'समर-परशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण ही से यह भी पता चलता है कि अन्य कई-वीरों पर विजय पाने के कारण उन्हें 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियों के अतिरिक्त वे 'भटमारि' और 'सुभटचूड़ामणि' की उपाधियों से भी भूषित किये गये थे।

चामुण्डराय केवल वीर और युद्धपरायण ही नहीं थे, उनमें वे सभी गुण थे, जो विशिष्ट और धर्मानुरागी व्यक्तियों मे पाये जाते हैं। अपने सद्गुणों के कारण ही उन्हें 'सत्ययुधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण' और 'कविजनशेखर' की उपाधियाँ मिली थीं। 'राय' भी एक उपाधि ही थी, जो राजा ने उनकी उपकारप्रियता और उदारता से प्रसन्न होकर उन्हें दी थी।

चामुण्डराय ने जैनधर्म के लिए क्या किया, यह बताने के लिये ११५९ ई० के एक लेख का उद्धरण देना उचित होगा। उक्त लेख मे लिखा है—"यदि यह पूछा जाय कि शुरू-मे जैनमत की उन्नति में सहायता पहुंचानेवालों मे कौन-कौन लोग हैं? तो इसका उत्तर होगा—केवल चामुण्डराय।" उनके धर्मोन्नति-संबंधी कार्यों का विशद वर्णन न कर हम सिर्फ इतना ही उल्लेख करेंगे कि श्रवणबेल्गोल में 'गोम्मटेश्वर' की विशाल मूर्त्ति चामुण्डराय की ही कीर्त्ति है। यह मूर्त्ति ५७ फीट ऊँची है और एक ही प्रस्तर-खण्ड की बनी है। 'गोम्मटेश्वर' की मूर्त्ति के समीप ही 'द्वारपालकों' की बाईं ओर प्राप्त एक लेख से, जो ११८० ई० का है, निम्नलिखित बातें इस मूर्त्ति के निर्माण के संबंध में मालूम होती हैं—

महात्मा बाहुबली पुरु के पुत्र थे। उनके बड़े भाई द्वन्द्व-युद्ध मे उनसे हार गए, लेकिन महात्मा बाहुबली पृथ्वी का राज्य उन्हे ही सौंपकर तपस्या करने चले गए और उन्होंने 'कर्म' पर विजय प्राप्त की। पुरुदेव के पुत्र राजा भरत ने पौदनपुर मे महात्मा बाहुबली केवली की ५२५ धनुप ऊँची एक मूर्त्ति बनवाई। कुछ कालोपरान्त, उस स्थान मे, जहाँ बाहुबली की मूर्त्ति थी, असंख्य कुक्कुटसर्प (एक प्रकार के पक्षी, जिनका सिर तो सर्प के सिर के समान होता था और शरीर का बाकी भाग कुक्कुट के समान) उत्पन्न हुए। इसीलिए उस मूर्त्ति का नाम कुक्कुटेश्वर भी पड़ा। कुछ समय बाद यह स्थान साधारण मनुष्यों के लिए अगम्य हो गया। उस मूर्त्ति मे अलौकिक शक्ति थी। उसके तेजःपूर्ण नखों को जो मनुष्य देख लेता था, वह अपने पूर्वजन्म की बातें जान जाता था। जब चामुण्डराय ने लोगों से इस जिन-मूर्त्ति के बारे मे सुना, तो उन्हे उसके देखने की उत्कट अभिलाषा हुई। जब वे वहाँ जाने को तैयार हुए, तो उनके गुरुओं ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इसपर चामुण्डराय ने इस वर्तमान मूर्त्ति का निर्माण कराया।

चामुण्डराय का ही दूसरा नाम 'गोमट' था, इसलिए इस नवनिर्मित मूर्त्ति का नाम 'गोम्मटेश्वर' पड़ा।*

* इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। —के० भुजबली शास्त्री

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के विषय में १०६८ ई० के एक लेख से पता चलता है कि इनके पिता का नाम गोविन्दराज था। इनके गुरु का नाम वर्द्धमान व्रती था, जो मूलसंघ के और देशीय-गण के थे। शान्तिनाथ पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय के समय में वनवसेनाड प्रान्त के शासक रायदंड गोपाल लक्ष्म के मंत्री और सेनापति थे। १०६८ के उक्त लेख में उन्हें 'वनवसेनाड' राज्य का कोषाध्यक्ष और उसका उन्नायक कहा गया है। इसी लेख में उन्हें 'श्रेष्ठ जैनमत-रूपी कमल के लिए राजहंस' कहा गया है।

शान्तिनाथ केवल सेनानायक ही नहीं, निपुण कवि भी थे। उक्त लेख में उन्हें जन्मजात और निपुण कवि कहा गया है। उन्हें 'सरस्वती-मुख-मुखर' की उपाधि मिली थी।

जैनमत के लिए शान्तिनाथ ने जो कुछ किया है, वह चिरस्थायी है। कहा जाता है कि उनकी ही प्रेरणा से लक्ष्म ने पत्थर का एक जिनमन्दिर निर्मित कराया और उसने तथा उसके राजा सोमेश्वर द्वितीय ने भी उस मन्दिर को भारी जागीरें दीं। उस मन्दिर का नाम 'मल्लिकामोद शान्तिनाथ-बसदि' है।

गंगराज

होयूसल राजा विष्णुवर्द्धन बिट्टिगदेव के यहाँ गंगराज, बोप्प, पुणिष, बलदेव, मरियण्ण, भरत, एच और विष्णु—ये आठ जैन योद्धा थे। विष्णुवर्द्धन १२वीं शताब्दी में हुआ था, अतः इन वीरों का समय निश्चित है।

गंगराज कौण्डिन्य गोत्र के द्विज थे। उनके पिता का नाम एच, एचियांग या बुद्धमित्र था और माता का पूचिकब्बे। उनके पितामह का नाम मार और पितामही का माकणब्बे था। इन बातों का पता १११८ और १११९ के शिलालेखों से लगता है। गंगराज माता-पिता की सब से छोटी संतान थे। उनकी स्त्री का नाम नागला देवी या लक्ष्मी और लड़के का नाम बोप्प या एच था।

श्रवणबेल्गोल के एक लेख से पता चलता है कि गंगराज के मातापिता कट्टर जैन थे। ११२० ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगराज की माता ने इसी साल (११२० ई० में) सल्लेखना की विधि से प्राण-त्याग किया। चामुण्डराय-बसदि के एक शिला-लेख में गंगराज की प्रशंसा की गई है और उनकी उपाधियों का वर्णन किया गया है। इन्ही शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि गंगराज ने अपने अतुल पराक्रम से होयूसल-राज्य का काफी विस्तार किया था।

विष्णुवर्द्धन के समय मे होयूसल-राज्य की उन्नति और रक्षा के लिए सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम था तलकाड से चोलों को मार भगाना। विष्णुवर्द्धन ने यह काम

गंगराज को सौंपा। यह काम अत्यन्त दुःशक्य था, क्योंकि तलकाड से चोलों को मार भगाने के लिए वहाँ के सामन्त को जीतने के अतिरिक्त तलकाड के पूर्वीय भाग में स्थित सामन्त दाम या दामोदर और पश्चिमी घाट के सामन्त नरसिंहवर्मा को परास्त करना आवश्यक था। इस समय चोलों के राजा राजेन्द्रदेव द्वितीय थे। गंगराज ने बड़ी वीरता और कुशलता से तलकाड से चोलशक्ति का समूल नाश कर दिया। ११३५ ई० के एक शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है। अंगडि के शिलालेख से यह भी मालूम होता है कि यह विजय १११७ में प्राप्त हुई थी। इसके बाद गंगराज ने पूर्वी तलकाड के सामंत दामोदर को युद्ध में परास्त किया। दामोदर प्राण-रक्षणार्थ जंगलों मे भाग गया। श्रवणबेलगोल में प्राप्त ११७५ के एक शिलालेख से यह बात विदित होती है।

अब सिर्फ एक सामंत—पश्चिमी घाट का शासक नरसिंह वर्मा--रह गया। श्रवणबेलगोल के उक्त शिलालेख और अरेगल्लु बस्ती के शिलालेख से पता चलता है कि नरसिंहवर्मा और चोल राजा के दूसरे सामंत हारकर घाट की पहाड़ियों पर भाग गए और इस तरह समूचा 'नाडु' होयूसल राजा के अधीन हो गया। पीछे नरसिंह वर्मा मारा गया।

जब गंगराज ने इस प्रकार होयूसल राज्य का विस्तार किया, तो विष्णुवर्द्धन ने कृतज्ञता-प्रकाशन के निमित्त उनसे पुरस्कार माँगने को कहा। गंगराज ने केवल 'गंगवाडि' मांग लिया। जान पड़ता है कि 'गंगवाडि' में गोम्मटदेव तथा अन्य अनेक जिन-मन्दिर थे, जिनकी व्यवस्था ठीक नहीं हो रही थी। यह भी अनुमान होता है कि वहाँ जैनमत का काफी प्रचार हो गया था। अतः गङ्गराज का उद्देश्य वहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करके जैनमत की उन्नति करना था। यही कारण था कि अन्य दुर्लभ वस्तुओं और धन-धान्य की इच्छा न करके उन्होंने केवल गङ्गवाडि ही माँगा, जिसे राजा ने सहर्ष उन्हें समर्पित किया। धर्म के प्रति इस अनुराग से गङ्गराज को बहुत यश प्राप्त हुआ। जैन साधुओं ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। वर्द्धमानाचारी ने १११८ के अपने शिलालेख मे उन्हें चामुण्डराय से सौगुना सौभाग्यशाली बताया।

गङ्गराज का पुत्र बोप्प भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुगामी था। वह भी वीर सेनानायक और कट्टर जैन था। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने 'दोरसमुद्र' मे एक जिनालय बनवाया। कहा जाता है कि ११३४ ई० मे बोप्प ने कई शक्तिशाली शत्रुओं को परास्त किया और अपने बाहुबल से 'कोंग' लोगों को अधीन किया।

पुणिष

पुणिप या पुणिषमय्य के पूर्वज राजमंत्री थे। उनके पिता का नाम पुणिषराज दंडाधीश था और उनकी उपाधि 'सकलशासनवाचकचक्रवर्ती' थी। पुणिषमय्य राजा विष्णुवर्द्धन के

लक्ष्मण और अमर। उनका कुल 'वाजिकुल' कहलाता था। किन्तु मदेश्वर मन्दिर के शिलालेख से, जिसका समय ११६४ ई० है, पता चलता है कि उनके वंश का नाम 'वाजिकुल' था, पर उनके पिता का नाम मधुसूदन और माता का मुद्दियक्के था। उसी लेख के अनुसार उनके भाइयों का नाम कान्तिमय्य और हरियण्ण था। यह संभव है कि उनके माता-पिता और भाइयों के दो-दो नाम रहे हों और इस शिलालेख में केवल प्रसिद्ध नामों का ही उल्लेख हो। लेकिन पूर्व-कथित शिलालेख के संबंध मे भी यही बात कही जा सकती है। जो कुछ हो, इस संबंध मे कुछ निश्चय करना अत्यन्त कठिन है, जबतक कि इस संबंध मे अन्य प्रमाण उपलब्ध न हों।

हुल्ल ने विष्णुवर्द्धन, नरसिंह प्रथम और उसके उत्तराधिकारी वल्लाल द्वितीय—तीनों के समय में राजमन्त्रित्व का कार्य किया था।

हुल्ल ने श्रवणबेलगोल मे प्रसिद्ध 'चतुर्विंशति जिनालय' का निर्माण कराया था। चौबीस तीर्थङ्करों का मन्दिर होने के कारण उसका उक्त नाम पड़ा था। यह जिनालय ११५९ ई० में बनकर तैयार हुआ था। यह गोम्मटपुर का आभूषण माना जाता है। राजा नरसिंह द्वितीय अपनी विजय-यात्रा के अवसर पर स्वयं यहाँ आये थे और उन्होंने इस जिनालय की व्यवस्था के लिये कई गाँवों का दान दिया था। राजा ने इसका नाम 'भव्यचूड़ामणि' रक्खा। ११७५ ई० मे हुल्ल को राजा वल्लाल द्वितीय ने सवनेरु तथा अन्य दो गाँव पुरस्कार में मे दिये, और हुल्ल ने ये गाँव भी इसी जिनालय को उत्सर्ग कर दिये। श्रवणबेलगोल के अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में भी उन्होंने धर्मानुराग और उदारता प्रदर्शित की।

शान्तियरण

शांतियण्ण के पिता का नाम पारिषण्ण या पार्श्वदेव और माता का बम्मल देवी था। शान्तियण्ण के पिता स्वयं एक पराक्रमी योद्धा थे। वे होयूसल राजा के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने आहवमल्ल को परास्त किया था, किन्तु स्वयं उस लड़ाई में मारे गए थे। राजा नरसिंह ने शांतियण्ण को, उनके पिता की मृत्यु के बाद, 'कारिगुंड' नामक ग्राम दिया था। इसके बाद ही शांतियण्ण दंडनायक के पद से विभूषित किये गए। इन्होंने भी कई जिनालयों का निर्माण कराया।

ईश्वर चमूपति

ईश्वर चमूपति के पिता का नाम एरेयंगमय्य था, जो 'सर्वाधिकारी' और 'सेनापति-दंडनायक' के पद से विभूषित थे। कहा जाता है कि ईश्वर ने ही मन्दारगिरि पर स्थित जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था। उसी बसदि के ११६० ई० के एक लेख से उनके संबंध की बातें मालूम होती हैं। उनके सैनिक पराक्रम के संबंध में हमें कुछ मालूम नही।

अन्य जैन वीर

कर्णाटक में अन्य अनेक जैन वीर हो गए हैं, जिनके संबंध में हमें अधिक बातें मालूम नहीं। इन वीरों में रेचिमय्य का नाम प्रसिद्ध है। इन्हे 'वसुधैकबान्धव' की उपाधि मिली थी। पहले ये कलचुरीय राजा के यहाँ थे, पीछे होय्सल राजा के यहाँ चले आए। ये होय्सल राजा वल्लाल द्वितीय थे। जैनमत की उन्नति के लिए इन्होंने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा कई लेखों में मिलती है।

वल्लाल द्वितीय के ही यहाँ 'वूचिराज' नाम के एक दूसरे जैन सेनापति थे। ये कन्नड और संस्कृत—दोनों भाषाओं के विद्वान् थे और दोनों में कविता करते थे। उन्होंने सिगेनाड में एक त्रिकूट जिनालय बनवाया था।

वल्लाल द्वितीय के राज्य-काल के अंतिम भाग में एक और प्रसिद्ध जैन सेनापति का आगमन होता है। इनका नाम अमृत था। कहा जाता है कि ये शूद्र-परिवार के थे। इनके पिता का नाम हरियम सेट्टि और माता का नाम सुग्गव्वे था। ये दंडनायक के पद पर थे। इन्होंने १२०३ में यक्कोटि जिनालय का निर्माण कर अपने धर्मानुराग का परिचय दिया। अन्य धर्मों के प्रति भी इन्होंने अपनी उदारता का परिचय दिया था।

अन्तिम होय्सल राजा वीर वल्लाल तृतीय के समय में कैतेय दंडनायक का पता मिलता है। ये एक प्रमुख जैन सेनापति थे। ये १३३२ ई० में वर्तमान थे, और 'सर्वाधिकारी' के पद पर थे, ऐसा लेखों से विदित होता है।

नोट—इस निबंध के तैयार करने में बी० ए० सालेतोरे-लिखित 'मेडिएवल जैनिज्म' नामक पुस्तक से सहायता ली गई हैं, अतः लेखक उक्त ग्रन्थकार का आभारी है।

धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

महाकवि हरिचन्द्र के सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना का समय अभी तक अनिर्णीत है। न तो उन्होंने स्वयं अपना समय बतलाया है और न उनके बाद के किसी ग्रन्थकर्ता ने ही उनका उल्लेख किया है जिससे कुछ अनुमान हो सके। उन्होंने अपने गुरु और उनके संघ गण-गच्छादि का भी कोई जिक्र नहीं किया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने उच्च कोटि के कवि की चर्चा तक कोई नहीं करता है जिसकी जोड़ का शायद एक भी कवि जैन कवियों मे नहीं है और जिसके विषय मे काव्यमाला-सम्पादक महामहोपाध्याय पं० दुर्गा प्रसाद जी ने लिखा है कि धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता अपनी कवित्व-प्रौढ़ता के कारण माघादि प्राचीन महाकवियो की कक्षा के हैं।

मुद्रित धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे कवि ने अपना परिचय सिर्फ इतना ही दिया है कि वे कायस्थकुल के अलंकारभूत श्रीआर्द्रदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम रथ्या और भाई का लक्ष्मण था। अपने वंशादि के विषय मे उन्होंने जो विशेषण दिये हैं, उनसे मालूम होता है कि वे किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित राजमान्य कुल के रत्न थे। बस मुद्रित प्रशस्ति से इतना ही परिचय मिलता है। संभव है मुद्रित प्रशस्ति अधूरी हो और दूसरी हस्तलिखित प्रतियों मे वह पूरी मिल जाय, जिससे समयादि का निर्णय हो जाय।

पाटण (गुजरात) के संघवी पाड़ा के पुस्तक-भाण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की जो हस्तलिखित प्रति है वह वि० संवत् १२८७ की लिखी हुई है और इसलिए उससे यह निश्चय हो जाता है कि महा कवि हरिचन्द्र उक्त संवत् से बाद के नही है, पूव के ही है। कितने पूर्व के है, यह दूसरे प्रमाण मिलने पर निश्चय किया जा सकेगा। इस ग्रन्थ-प्रतिका नं० ३६ है और इसकी पुष्पिका में लिखा है—"संवत् १२८७ वर्षे हरिचंद्रकविविरचितधर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि (रे) आदेशेन कीर्तिचंद्रगणिना लिखितमिति भद्रम् ॥"

इस प्रति मे १२॥ × ११ साइज के १९५ पत्र हैं।

उक्त संघवी पाड़े के ही भाण्डार मे इस ग्रन्थ की १७६ नम्बर की एक प्रति और भी है जिसमें २०×२½ साइज के १४८ पत्र हैं। इस प्रति मे लिखने का समय तो नहीं दिया है; परन्तु प्रति लिखा कर वितरण करनेवाले की एक विस्तृत प्रशस्ति दी है, जो यहाँ दे दी जाती है।

अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
धर्मचक्रभृतां तीर्थैर्धनाढ्यैर्मानवैरपि ॥१॥

विद्यापुरं पुरं तत्र विद्याविभवसंभवं।
पद्मः शर्करया ख्यातः कुले हुंबड़संज्ञके ॥२॥
तस्मिन्वंशे दादनामा प्रसिद्धो भ्राता जातो निर्मलाख्यस्तदीयः।
सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां तं दातारं को भवेत्स्तोतुमीशः ॥३॥
दादस्य पत्नी भुवि मोषलाख्या शीलांबुराशेः शुचिचंद्ररेखा।
तन्नन्दनश्चाहणिदेविभर्त्ता देपालनामा महिमैकधाम ॥४॥
ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो रुंडाकनामा तनयो विनीतः।
श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो दानेन लक्ष्मीं सफलां करोति ॥५॥
हानू-जासलसंज्ञकेऽस्य शुभगे भार्ये भवेतां द्वये,
मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे सद्धर्ममार्गे रते।
सागारव्रतरक्षणैकनिपुणे रत्नत्रयोद्भासिके,
रुद्रस्येव नभोनदीगिरिसुते लावण्यलीलायुते ॥६॥
श्रीकुंदकुंदस्य वभूव वंशे श्रीरामचंद (द्रः) प्रथितप्रभावः।
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोंगनावक्षसि हारभूतः ॥७॥
प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टे विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान एकांतवादादिविनाशवज्रम् ॥८॥
जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो
जिनगुणमणिमाला यस्य कंठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं
निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥९॥

अर्थात्—धर्मचक्रियों (तीर्थङ्करों) के तीर्थों और धनी मनुष्यों के कारण जो तीन भुवन में विख्यात है, उस गुर्जर (गुजरात) देश मे विद्या और वैभव से सम्पन्न विद्यापुर (बीजापुर ?) नाम का नगर है। वहाँ हूमड़ कुल मे एक पद्म नामक गृहस्थ विख्यात हुए जिनका पत्नी का नाम शर्करा था। उसी वंश मे दाद हुए जिनके भाई का नाम निर्मल था। जिसने सर्वज्ञों का भी प्रतिष्ठा दी अर्थात् जैनमंदिरों की प्रतिष्ठा कराई, उस दाता की भला कौन नहीं प्रशंसा कर सकता है ? दाद की पत्नी का नाम मोषला था जो शीलवती और चन्द्ररेखा के समान पवित्र थी। उसके पुत्र का नाम महिमाधाम देपाल (देवपाल) था जिसकी चाहणी देवी नामक भार्या से सुन्दर विनयशील रुंडाक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो दान कर करके अपनी लक्ष्मी को सफल करता है। उसकी हानू और जासल नाम की दो भार्यायें महादेव की गंगा और पार्वती के सदृश थीं, जो सद्धर्ममार्ग मे रत, सागारव्रतों की रक्षा करनेवालीं और रत्नत्रय को प्रकाशित करनेवाली थीं।

श्रीकुन्दकुन्द के वंश में प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य शुभकीर्त्ति हुए जो बड़े तपस्वी थे। इस समय उनके पद को अपनी विद्या के प्रभाव से विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं, जिनके अनेक शिष्य हैं और जो एकान्तवादियों को पराजित करनेवाले हैं।

विशालकीति के शिष्य विजयसिंह हैं, जिनके कंठ में जिनगुणों की मणिमाला सदैव शोभा देती है।

उसने यह भगवान् धर्मनाथ का काव्य (धर्मशर्माभ्युदय) पुण्यवृद्धि के निमित्त उनके लिए वितरण किया।

पहले के पद्यों में रुंडाक तक जो वंशावली दी है, उससे आगे का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। संभव है, छह नम्बर के बाद का कोई श्लोक छूट गया हो जो वितरणकर्त्ता का सम्बन्ध जोड़नेवाला हो। ऐसा मालूम होता है कि रुंडाक की दो पत्नियों में से किसी एक का कोई पुत्र होगा जिसने धर्मशर्माभ्युदय की उक्त प्रति को दान किया है।

इस १७६ नम्बर वाली प्रति मे प्रति लिखने का समय नहीं दिया है; परन्तु रामचन्द्र शुभकीर्ति या विशालकीर्ति के समय का पता यदि अन्य साधनों से लगाया जा सके तो वह मालूम हो सकता है।

विद्यापुर गुजरात का बीजापुर ही मालूम होता है। वहाँ हूंवड़ जाति के जैनों की बस्ती अब भी है।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य की प्रतियाँ जहाँ जहाँ हों, वहाँ के विद्वानों को चाहिए कि वे उनकी प्रशस्तियों को देखें और उनमे यदि कोई विशेषता हो, तो उसे प्रकाशित करने की कृपा करें।

गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित पाटणके भाण्डारों के सूचीपत्र मे इन दोन प्रतियों का जो विवरण दिया है, उसी के आधार से यह नोट लिखा गया है।

बम्बई,
२०-११-३९

गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल

[लेखक—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

श्रीयुत गोविन्द पै के मतानुसार 'श्रवणबेलगोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना-तिथि १३ मार्च, सन् ९८१ है। बहुत कुछ संभव है कि यह तिथि ही मूर्त्ति की स्थापना-तिथि हो। क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं वे उस तिथि में अर्थात् १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते हैं। अत एव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्फुट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती हैं और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग-विवरण इस प्रकार है—

श्रीविक्रम सं० १०३८ शकाब्द ६०३ चैत्रशुक्ल पंचमी रविवार घटी ५६, पल ५८, रोहिणी नाम नक्षत्र, २२ घटी, १५ पल, तदुपरांत प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र २५ घटी, ४८ पल, आयुष्मान् योग ३४ घटी, ४६ पल इसके बाद प्रतिष्ठा-समय मे सौभाग्य योग २१ घटी, ४९ पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट १० राशि, २६ अंश, ३९ कला और ५७ विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है—

१०।२६।३९।५७ लग्न स्पष्ट—इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवां है, इसका स्वामी मंगल है। अत एव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिंशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिये यह षड्वर्ग बना—

(१) गृह—शनि, (२) होरा—चन्द्र, (३) नवांश—मंगल, (४) त्रिशांश—बुध, (५) द्रेष्काण—शुक्र, (६) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभ ग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितान्त अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अत एव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देनेवाला है। इसलिये इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान् है; क्योंकि षड्वर्ग की शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिये ही होता हैं, फलत यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है।

जिसका कि फल आगे लिखा जावेगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह ४ बज कर ३८ मिनट होना चाहिये। क्योंकि ये लग्न, नवांशादि ठीक ४ बजकर ३८ मिनट पर हा आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
११	१	२	१०	१	०	६	०	६	राशि
२४	२५	७	२	३	५	६	७	७	अंश
४३	४१	२६	५८	११	३६	१३	२१	२१	कला
१४	२५	४८	५१	३१	४२	५९	३७	३७	विकला
५८	७८२	४५	१०८	४	५६	२	३	३	गति
४५	५२	३७	५९	४१	५२	३१	११	११	विगति

यहाँ पर 'ग्रह-लाघव' के अनुसार अहर्गण ४७८ है तथा चक्र ४९ है, करणकुतूहलीय अहगण १२३५-९२ मकरन्दीय १६८८३२९ और सूर्यसिद्धान्तीय ७१४४०३९८४९५६ हैं। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाये गये हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घट्यादि भी इसी के अनुसार हैं।

उस समय की लग्न-कुण्डली
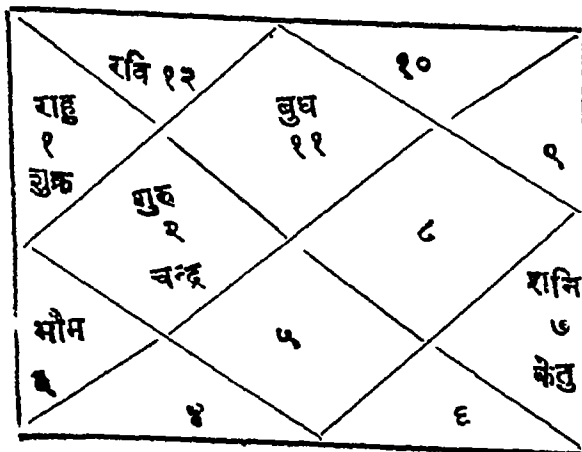
उस समय की चन्द्रकुण्डली
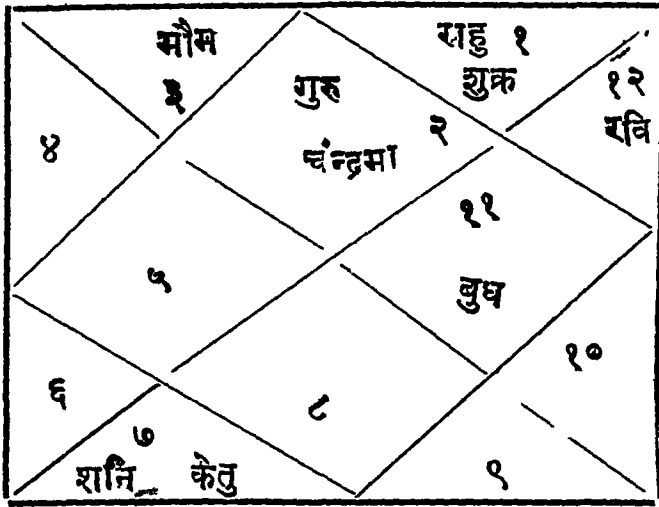
प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये लग्नकुण्डली का फल

सूर्य्य—जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है, वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गौ, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यों में खर्च होता है। लाभ के लिये उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल—यह लग्न से चतुर्थ है इसलिये केन्द्र में है साथ ही साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिये इसका फल बहुत उत्तम है। प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहाँ सब से बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है—

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि—

भौम का फल—यह लग्न से पंचम है इसलिये त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिल्कुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह चिन्तित रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमरकीर्त्ति संसार मे फैलाता है।

बुधफल—यह लग्न मे है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा—

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहो के अरिष्टों को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के ८वें वर्ष मे शनि और केतु से रोग आदि

जो पीड़ायें होती हैं उनको विनाश करता है।*

गुरुफल—यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों को दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, वन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें हैं। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।†

शुक्रफल—यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अत एव इसका फल प्रतिष्ठा के ५वें वर्ष मे सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ ही साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र के होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।‡

शनिफल—यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुलाराशि का है। इसलिये उच्च का शनि हुआ अत एव यह धर्म की वृद्धि करनेवाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों मे रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के हैं।

---

* 'गुरो नूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
जना दिव्यचामीकरीभूतदेहाश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भवन्ति॥"
"लग्ने स्थिताः जीवेन्दुभार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।"

† गृहद्वारत भूयते वाजिहेषा द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्।
प्रतिस्पर्धिनः कुर्वते पारिचर्यं चतुर्थे गुरौ तद्गमन्तर्गतञ्च॥

—चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोके सुभगो राजपूजितः। विजितारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते॥

लग्नचन्द्रिका

अर्थ—गुरु अर्थात् लग्न मे चतुर्थ स्थान में बृहस्पति हो वें तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी, राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिये बृहज्जातक १८ वां अध्याय देखो।

‡ सुखे धारवाणे मनीषापि चार्वी मुखं चारु चारुणि वासासि तस्य।

वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः। नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते॥

लग्नचन्द्रिका

अर्थ—शुक्र के तीसरे स्थान में रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक में भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिखा गया है।

राहु फल—यह लग्न से तृतीय है अत एव शुभग्रह के समान शुभ फल का देनेवाला है। प्रतिष्ठासमय राहु तृतीय स्थान मे होने से, हाथी या सिंह पराक्रम मे उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिये उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।*

केतु का फल—यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना प्रशंसनीय कार्य करना आदि बातें होती हैं। अन्यत्र भी कहा है—†

"शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाशः
सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धिः।" इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिये तत्कालीन ग्रहों का फल—मूर्त्ति के लिये फल तत्कालीन चन्द्र-कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चरस्थिरादि लग्न नवांश और त्रिंशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर है और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिंशांशादिक भी षड् वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अत एव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर, डाकू आदि का भय नहो हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और चामत्कारिक शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा सभी उस मूर्ति का पूजन करते है। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्त्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती है।

---

* न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान्॥ इत्यादि

अर्थ—जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म, धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते है। वह उत्तम वक्ता होता है।

† एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थः सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहन्ति सद्यः स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्॥
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि। सुराणां स्थापन तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्॥

भावार्थ—इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात् नहीं के बराबर हैं। अत एव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने वाला और श्रीचामुण्डराय के लिये सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देने वाला सिद्ध हुआ होगा।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशीश चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ मे है, तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र है। अत एव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्त्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुंचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते है तो परमायु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और १९ दिन आते हैं।

मूर्ति के लिये कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस स्थान मे पहुंच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली मे 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल भी अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगो के लिये भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में वाण पंचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमे से कोई भी वाण नही हैं। अत. उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सब को अपार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक मे ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आजकल की प्रतिष्ठाओ मे मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवो का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिये ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अत एव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्-वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है।

सार "जैन एन्टीक्वेरी"

(भाग ५, अङ्क ३)

पृ० ६७-७४—प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल साहित्य के अन्य लघु-काव्यों का परिचय कराया है। वे (१) यशोधरकाव्य (२) चूड़ामणि (३) उदयनन् कथै (४) नागकुमार काव्यम् (५) और नीलकेसी हैं। यह सब काव्य जैन कवियों की रचनायें हैं। यशोधरकाव्य के रचयिता के नाम-धाम का पता नहीं है।

पृ० ७५—७९ प्रो० घोषाल ने जैनसिद्धांत और जैनेतर साहित्य में 'मन' का परिचय कराया है। अथर्ववेद (कांड २१, अनुवक १-९-५) में पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मन को गिनाया है। इसका भाव यह नहीं है कि मन भी इन्द्रिय है। यद्यपि उपरांत के वैदिक साहित्य में मन भी इन्द्रिय माना गया है। 'वेदान्तपरिभाषा' में मन को इन्द्रिय नहीं कहा है। कठोपनिषद् (३।१०) में अर्थों को इन्द्रियों के परे और मन को भी इन्द्रियों के परे बताया है। 'वेदांतसूत्र' (२।४।२७) भाष्य में कहा है कि मन यद्यपि इन्द्रियों से पृथक् बताया है, परन्तु स्मृतियों के आधार से वह भी इन्द्रिय है। जैन न्याय में मन को अनिन्द्रिय अथवा नो-इन्द्रिय कहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनी मन को इन्द्रिय नहीं मानते। शेष इन्द्रियों से वह भिन्न है।

पृ० ८१—८८ अशोक विषयक हमारी लेखमाला में आगे अशोक के लेखों से बताया है कि वह बौद्ध नहीं हुआ था। अशोक की स्टेटपॉलिसी जैनों की अहिंसा से बहुत सादृश्य रखती है। अशोक के लेखों के आधार से उसका जैनश्रद्धान बताया गया है। उसने जो स्तंभादि बनवाए वह जैनी चिह्नों सहित कई जैन स्थानों जैसे वैशाली, गिरिनार आदि में हैं।

पृ० ८९—९५ प्रो० शास्त्री ने प्रकट किया है कि भास्कर की किरण २ मे प्रतिपादित वादीभसिंह को ११ वीं शताब्दी से कुछ पहले के विद्वान् होना चाहिये।

पृ० ९७—९९ प्रो० उपाध्ये ने कई जिनमूर्तियों के लेख छपाए है। उनमे से कई यापनाय संघ के हैं। यह मूर्तियाँ दिगम्बर जैन मंदिरों मे विराजमान हैं।

—का० प्र०

साहित्य-समालोचना

(१)

अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें

(१) जैनधर्म पर लोकमान्य तिलक का भाषण और प्रसिद्ध विद्वानों का अभिमत; पृष्ठ ४०
(२) स्याद्वाद-परिचय; पृष्ठ २८। (३) कर्मसिद्धान्त-परिचय; पृष्ठ ४१।

इन तीनों पुस्तकों के लेखक श्रीयुत पं० अजितकुमार जी शास्त्री, मुलतान हैं। पुस्तकों का विषय नाम से ही स्पष्ट है। विद्वान् लेखक ने अपने अभीष्ट विषयों पर संक्षेप में अच्छा प्रकाश डाला है। पुस्तकों का चाक-चिक्य, मुद्रण एवं कागज आदि भी सुन्दर हैं। खास कर इन पुस्तकों को अधिक संख्या मे विना मूल्य जैनेतर विद्वानों में वितरण करने की बड़ी ज़रूरत है। मैं जहाँ तक समझता हूं उक्त ग्रन्थमाला का भी यही ध्येय होगा। मैं आशा करता हूँ कि प्रस्तुत ग्रंथमाला में क्रमशः दशधर्म, द्वादश भावना, गृहस्थधर्म, निर्वाण, आवागमन जैनियों की पूजा, आत्मज्ञान, ॐ की एकीकरण शक्ति आदि अन्यान्य विषयों की भी पुस्तकें प्रकाशित होती रहेंगी।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

कथा-कुसुमावली

लेखक—जयकुमार शर्मा; पृष्ठसंख्या १३९; मूल्य—आठ आने। प्रकाशक—रावजी सखाराम दोशी, कल्याण पावर प्रेस, शोलापुर।

यह एक हाई इङ्गलिश स्कूल मे पढ़ायी जानेवाली संस्कृत पाठ्यपुस्तक हैं। प्रणेता ने इसे स्वरचित पद्य-द्वारा इसके प्रकाशक महोदय को ही समर्पित किया है। इसमे गद्य-पद्य दोनों हैं। गद्य लेखक का ही ज्ञात होता है, पर पद्य महापुराण, यशस्तिलकचम्पू, वर्द्धमानचरित आदि जैनपुराण एवं काव्य मे उद्धृत किये गये हैं। इसमे "अकुतोभयो हि महावीरः" आदि [illegible] पाठ हैं। इनके अतिरिक्त वाक्यरचना की विशेषता और शब्दरत्नाकर (कठिन अथवा सरल संस्कृत शब्दों का मराठी और हिन्दी मे अर्थ) भी अङ्कित है। प्रारंभ मे कई कृतविद्य, प्रख्यात प्रोफेसर तथा संस्कृत पाठशालाध्यापकों के प्रशंसापत्र भी सन्निबद्ध हैं, जिनमें प्रस्तुत पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। उत्साही लेखक संस्कृत लिखने मे सिद्धहस्त मालूम पड़ते हैं। यों तो अंग्रेजी स्कूलों मे पढ़ाई जानेवाली बहुतेरी संस्कृत-रीडरें मेरी नज़रों से गुजरी हैं पर जैनपाठशालाओं मे जैनशास्त्रानुसार संस्कृत-रीडर लिखने का आपका ही यह प्रथम प्रयास है। आशा है आपकी लेखनी से और भी उत्तरोत्तर विकसित रूप में संस्कृत पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित होती रहेंगी। यों तो अशुद्धियों बहुत हैं, पर अन्त मे अशुद्धि-पत्र लगा दिये गये हैं।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६—वि० सं० १९९६, वीर सं० २४६६ एवं ई० सन् १९४०

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V *MAR. 1940* No. IV.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A , Ph D.
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M R A S.
Pt K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

INLAND Rs. 4 FOREIGN Rs. 4-8 SINGLE COPY Rs. 1-4.

CONTENTS.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V, No. IV } ARRAH (INDIA) { March. 1940.

THE MASTAKĀBHISHĒKA OF GOMMAṬĒŚVARA AT ŚRAVAṆA BEḶGOḶA.

BY

Dr. M. H. Krishna, M A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State.

Śravana Belgoḷa is situated in 12°51′ north latitude and 76°29′ east longitude, about 8 miles to the south of Chennarāyapatṇa in the Chennarāyapatṇa Taluk of the Hāssan District of the Mysore State Buses run daily to Śravana-Belgola from Hāssan and Mysore. The distance from Hāssan is 31 miles and the distance from Mysore is 62 miles. Both these roads to Śravana Belgoḷa run through Chennarāyapatna and as the traveller passes this place, he observes a conspicuous hill, a few miles to the south, bearing on its summit what appears at first sight to be a column, but which on drawing nearer proves to be a colossal statue in the human form This striking and unusual object, the image of Gommātēsvara, which is visible for miles around marks the site of Śravaṇa-Belgoḷa, the chief seat of the Jainas in South India from very early times The village lies picturesquely between two rocky hills one larger than the other which stand up boldly from the plain and are covered with huge boulders " In the whole beautiful State of Mysore, it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here."

If tradition is to be believed the history of Śravaṇa-Belgoḷa begins from the third century B.C Chandragupta Maurya is said to have taken a vow of renunciation in his old age and migrated from his capital Pāṭaliputra in the north to Sravana-Belgoḷa and settled there with his guru Bhadrabāhu. Five hundred inscriptions collected in and near Śravaṇa-Belgoḷa, which range in date from 600 A. D. until recent times tell us that the place was successively ruled by the Gaṅga, Rāshṭrakūta, Chālukya, Hoysaḷa, Vijayanagara and Mysore rulers.

The great statue of Gommatēśvara, the object of the Mastakābhishēka was erected in 983 A. D. by Chāmuṇḍarāya, the minister of the Ganga king Rāchamalla IV. According to tradition Gommaṭa or Bāhubali was the second son of the first Tirthankara Purudēva. Even though he defeated his elder brother Bharata in the war of succession, yet he generously handed over the kingdom of the earth to him, retired from this world and attained eminence as a great ascetic. Bharata set up a statue in honour of this saint in North India. But as this statue came to be surrounded by snakes and as the place where it was situated was difficult to reach, Chāmuṇḍarya set up a statue of Gommata at Śravana Belgola.

The image is nude and stands erect facing north. The face is a remarkable one, with a serene expression; the hair is curled in short spiral ringlets all over the head, while the ears are long and large. The figure is treated conventionally, the shoulders being very broad, the arms hanging straight down the sides, with the thumbs turned outwards The waist is small. From the knee downwards the legs are somewhat dwarfed. Though not elegant, the image is not wanting in majestic and impressive grandeur The figure has no support above the thighs. Up to that point it is represented as surrounded by ant-hills, from which emerge serpents; and a climbing plant twines itself round both legs and both arms, terminating at the upper part of the arms in a cluster of berries or flowers. The pedestal is designed to represent an open lotus. It is probable that Gommata was cut out of a boulder which rested on the spot, as it would have been a work of great difficulty to

transport a granite mass of this size up the oval hill side. It is larger than any of the statues of Rameses in Egypt.

The figure is standing with shoulders squared and arms hanging straight. Its upper half projects above the surrounding ramparts. It is carved in a fine-grained light-grey granite, has not been injured by weather or violence, and looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist.

The face is its strong point. Considering the size of the head, which from the crown to the bottom of the ear measures six feet six inches, the artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile, with which Gommaṭa gazes out on the struggling world.

Gommaṭēśvara has watched over India for only 1000 years, whilst the statues of Rameses have gazad upon the Nile for more than 4000. The monolithic Indian saint is thousands of years younger than the prostrate Rameses or the guardians of Abu Simbal, but he is more impressive, both on account of his commanding position on the brow of the hill overlooking the wide stretch of plain and of his size. It is the biggest monolithic statue in the world. The height of the image is 57 feet:

The labour bestowed on this image is really astonishing and the image is on the whole a very successful piece of sculpture. The best part of the image is its face with its wonderful contemplative expression touched with a faint smile. The spirit of Jaina renunciation is fully brought out in this statue. The nudity of the image indicates absolute renunciation while its stiff and erect posture stands for perfect self-control The benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the struggling world. In spite of its slight anatomical defects, the image looks majestic and impressive. Fergusson says "Nothing grander or more imposing exists anywhere out of Egypt and even there no known statue surpasses it in height."

The Mastakābhishēka or the head-anointing ceremony is performed only at intervals of several years and at great cost. The

earliest one on record took place in 1398 and the latest in 1925 The following account of the ceremony held in 1887 is quoted from Epigraphia Carnatica, Vol. 2 Śravana Beḷgoḷa, pages 18—19.

"The 14th March last was the day of anointing for the statue of Gommateśvara. It was a great day, in anticipation of which 20,000 pilgrims gathered there from all parts of India There were Bengalis there, Gujaratis also, and Tamil people in great numbers. Some arrived a full month before the time and the stream continued to flow until the afternoon of the day of the great festival. For a whole month there was daily worship in all the temples, and pāda-pūja or worship of the feet of the great idol besides. On the great day, the 14th, the people began to ascend the hill even before dawn in the hope of securing good places from which to see everything Among them were large numbers of women and girls in very bright attire, carrying with them brass or earthen pots. By 10 o'clock all available space in the temple enclosure was filled. Opposite the idol an area of 40 square feet was strewed with bright yellow paddy, on which were placed 1,000 gaily painted earthenware pots, filled with sacred water, covered with cocoanuts and adorned with mango leaves. Above the image was scaffolding, on which stood several priests, each having at hand pots filled with ghee, milk and such like things. At a signal from the Kolhāpur Svāmi, the master of the ceremonies, the contents of these vessels were poured simultaneously over the head of the idol This was a sort of preliminary bath, but the grand bath took place at 2 o'clock. Amid the horrible dissonance of many instruments the thousand pots already mentioned were lifted as if by magic from the reserved area to the scaffolding and all their contents poured over the image, the priests meanwhile chanting texts from the sacred books. Evidently the people were much impressed There were mingled cries of 'Jai Jai Mahārāja,' and 'Ahaha, ahaha,' the distinctive exclamations of Northern and Southern Indians to mark their wonder and approval. In the final anointing fifteen different substances were used, namely, water, cocoanut meal, plantains, jaggery, ghee, sugar, almonds, dates, poppy seeds, milk, curds, sandal, gold flowers, silver flowers and silver coin. With the gold and silver flowers there were mixed nine varieties of

precious gems; and silver coin to the amount of Rs. 500 completed the offering"

The Gommatēśvara image is on the top of the hill called Vindhyagiri. On the way to the image, the following objects all ascribed by tradition to Chāmuṇḍarāya, arrest our attention. They are the Tyāgada Bramhadēva Pillar, which contains excellently carved work, Akhaṇḍa Bāgilu, a rock-cut doorway and the image of Guḷḷakāyajji, a lady who is said to have helped Chāmuṇḍarāya in the performance of the anointment of Gommaṭa

Opposite Vindhyagiri is the smaller hill known as Chandragiri which contains among other antiquities, the cave of Bhadrabāhu-svāmi, the guru of Chandragupta Maurya and numerous inscriptions relating to Bhadrabāhu, Chandragupta and other Jaina saints, the Chandragupta Basti, which contains interesting sculptures of Jaina mythological subjects, and the Chāmuṇḍarāya Basti, the largest and the most handsome temple on this hill.

The village which is situated between the hills Vindhyagiri and Chandragiri contains the Bhaṇḍāri Basti, the largest temple in the village enshrining the twenty-four Tīrthankaras, Akkana Basti, a fine temple in the Hoysaḷa style of architecture, the Jaina Maṭha, the residence of the Jaina Gurus, and a beautiful large pond or kalyāni which has given its name to the place. The neighbouring villages of Jinanāthapura (2 miles) and Kambadahalli (7 miles) contain Jain antiquities of much architectural and sculptural value.

The Government of His Highness the Mahārāja of Mysore have spared no pains either in the excellent upkeep of the glorious Jaina antiquities at Śravaṇa Beḷgoḷa or in providing all facilities to the lakhs of pilgrims who throng to the place at the time of important ceremonies. The intimate relations between Jainism and Mysore have been beautifully expressed by His Highness the Mahārāja of Mysore in his speech at the All-India Jaina Conference held at Śravaṇa Belgoḷa on 14th March 1925 at the time of the last Mastakābhishēka. "*In welcoming this all-India gathering of Jainas* to the land of Mysore, I cannot forget that this land is to them a

land of pilgrimage, consecrated by some of the holiest traditions and tenderest memories of their faith. This is the holy spot sacred to the Muniśvara Gommata whom tradition represents to have been the younger brother of Bharata, the eponymous Emperor of Bhārata-varsha. The land of Mysore therefore symbolises Gommata's spiritual Empire as Bhāratavarsha stands for the Empire of his brother Bharata. But Jainism not only found a second birthplace and home Mysore, Jainism repaid the debt. For Jainism if it did not create our Kannada literature, inspired some of the noblest master-pieces of that literature in its early history; and Jaina learned men have ever since continued to render signal service to it."

THE DATE OF THE CONSECRATION OF THE IMAGE OF GOMMAṬEŚVARA

BY

S Śrikaṇṭha Sastri, M.A.

भद्रं भवत्वखिलधार्मिकपुण्डरीक-
षण्डावबोधनसुमित्रदिवाकराय ।
संसारसागरविचित्रनिमग्नजन्तो
र्हस्तावलम्बनकृते जिनशासनाय ॥

(*S. I. I.* IX *pt* I *no.* 387.)

The exact date of the consecration of the image of Śri Gommaṭeśvara has been discussed by several scholars, Dr. R. Shāma Śastrī in the *Mysore Archaeological Report* for 1923 made use of the date given in the *Bāhubali Carita* to substantiate his theory of the commencement of the Gupta era in C. 199-200 A. C. On the basis of the following verse:—

कल्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार ।
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥

(*Bāhubali Carita* v. 64.)

Assuming that *Kalyabda* should have been a mistake for *Kalkyabda*, he calculated that the date would tally with Sunday, 3rd March, 1028 A. C. The defect in this calculation was pointed out by Dr. A. Venkata Subhayya. Some think that the date implied was probably 21st April, Sunday 980 A. C. when Mṛga śirā nakṣatra and kumbha lagna were current.[1] The *Ajitanāthapurāna* of Ranna was completed in Śaka 915, Vijaya, Kārtika, Nandīśvara day (26th October 993 A. C.), and it says that Attimabbe visited the image

1. If one reading is really Kalki, it is intrepreted as in the sixth century after Kalki and in the 8th year Vibhaba. But 980 A. D is Vikrama according to southern and Vsha according to northern cycles.

of Gommateśvara. Therefore it is clear that the image existed long before that date How far earlier has to be determined

It is assumed that because Chāvundarāya in his *Adipurana* does not refer to the installation of Gommaṭa, it must have taken place after the completion of the work The date of the work is given as follows :—

Nava Śata Samkhye yāge Śakakāla samam negald-Iśva-
rābdmu-

-tsavakaramāge Phalguna sitāstami Rohini
Somavāramem-

bivu śubhadangalāge paramōtsavadim guna-
ratna bhūshanam

kavijana śēkharam baredu pustakakē risidam
purānaman ||

Dr A Venkata subbayya calculates that according to the southern reckoning the date would fall on Monday, February 18th 978 A. C. when Rohinī was current. According to the northern cycle A. C 976 was Iśavara. Therefore the image of Gommata may have been established between 976 and 993 A. D. The nearest Vibhava occurs in 968 A C. and Śukla panchmi falls on March 7th Saturday but the actual festival might have occured on the next day Sunday. Still we cannot attach much importance to this, nor to the absence of the mention of Gommateśvara image in the Çāvunda Rāya purāna In the previous Vibhava (908 A C) Caitra Suddha panchmi falls on March 10 Thursday. In 907 A. C. (Prabhava) the tithi occurs on a Sunday, March 10th. Dr. R Shama Sastri's date is really impossible for there is no evidence that Cāmunḍa Rāya lived up to 1028 A D.

I wish to point out the existence of another clear reference to the Gommaṭa image. In the *Mysore Archaeological Report* for 1913-14 p. 28, an inscription at Chikka Hanasōge is given. It belongs to the time of the Ganga Ereya.

Ereya samudra vēṣṭitāvanige dharātalamam pratipāli
-suttamil-
-tereya mahārimaṇḍilakarin besegeyye vilāsa elge-
-yim
mereva karūran'?)endenisal āliporī stita samdhya
rindu van
derega samantu Kalneleya dēvara pāda payoruhan-
gaḷōl ||
Sthāvara jangama tirtham
bhāvisi peḷdāgaḷ orade Gommaṭa devar
sthāvara tirthan, Kalnele
Dēvar bhūvalaya dolagaṇa tirtham ||

Here Gommaṭa dēva is described as the fixed sacred place and Kalnela dēva as the moving sacred place in the Universe. This Kalnela dēva was the disciple of Ēḷacārya He was called *āstōpavasi* and set up the *nisidige* of his guru Elācarya and must have been the contemporary of Ereya This inscription is assigned by R. Narasimhāchar to c. 910 A C. Another inscription in the same report at the same place (p. 38) refers to Nēmicandra (*c* 900 A. C) the disciple of Śridhara of Hanasōge vali, Dēsi gaṇa, Pustaka gaccha. E. C IV No 28 refers to Ēlācārya of the same gana and gachha as the disciple of Śrīdhara Referring to Śridhara of Pustaka gachha of the Dēśi gaṇa are the following :—

Pūrṇa candra.
Dāmanandi
Ēḷācārya.

Śrīdharācarya —Śrīdhara dēva	[Kelnele dēva.]
Maladhāri dēva ·	Divākara
Candrakirti. 1099 A. D. ···	Jayakirti

Tamil tradition says that one Elāchārya was the guru of Tiruvalluvar to whom Kural is attributed, Hirālāl (*Cat, Skt Pkt* in C P. and Berar) says' that Hōlacārya is the propagator of Jvālāmalini worship *M E R* 416 of 1929 says that Elacārya was a native of Hōma grāma near Nilagiri. (Ponūr in North Arcot.)

In the Sūrastha (?) gana (E. C. IV No. 19) we have

Anantavīrya
Bālacandra
Prabhācandra
Kalnele dēva
astōpavāsi
Hemanandi
Vinayanandi

Ēkavīra	Pallapandita (Pālyakirti 1118 A. C Abhimānadāni)
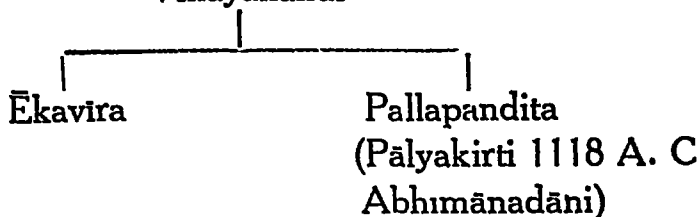
In I. A. XIV, one Ananta vīrya is said to have been the disciple of Guna sēna who was the disciple of Vīra sena. Ananta Vīrya is the contemporary of Rakkasa Ganga in Ś. 899 (977 A. C.) The Humcha inscription refers to Mārasimha Nolamba Kulāntaka Guttiya ganga as the younger brother of Marula, his younger brother Rācamalla and his younger brother Govinda Nītimārga. Then his *kiriya* (younger ?) is mentioned as Satya Vākya Govindara whose titles were Rakkasa Ganga, Vīramāratānda etc. Rakkasa Ganga, brought up the daughters of his younger brother Arumolidēva and married one of them to Kādu vetti. Ananta Virya may have been the same as the author of *Parīkshāmukha Sutra vrtti*, in 975 A.D Therefore this Kelnele dēva must have been different from Kelnele dēva the disciple of Ēlacarya and the contemporary of Erega in c. 910 A.D. If this Erega is the same as Ereyappa, Mahēndrāntaka, he must be placed between 907 and 913 A. D.

If, as indicated above, the consecration took place in a year Vibhava, since 908 A D is a Vibhava and the details seem to refer to 907 A C 10th March Sunday, this is most probably the date of installation as it falls in the reign of Erega

But it should be investigated whether such an early date is in conformity with the known facts about Cāmunda Rāya who was

Ec. VII *Sr.* 37 mentions one Anantavirya as the colleague of Maladhāri Śrīpāla dēva in Ś1069 (1147 A C)

responsible for the installation. Apart from a consideration of the existence of several Cāvuṇda rayas, it is usually assumed that Cāvinḍa rāya whose inscription is found near the image is the same as the author of *Cāvuṇda Rayapuraṇa.* The exploits of Cāvuṇda mentioned in the Kannada work seem to tally with those described in the incomplete inscription at Sravaṇa Beḷagoḷa (No. 281). The inscription says that on the orders of Indra, he defeated Vajjvala the younger brother of Pātāḷamalla and also took part in the wars with Noḷamba Rāja at Virōttamsapura. He frustrated the ambition of Chaladanka Ganga (?) In the Purāna he refers to victories over Rājāyta, Rācha, Gōvindarasa and Rāchaya who coveted the country. Further he mentions the places of battle, enemies and the titles obtained by time, in the him of Jagadēkavira (Marasimha.)

Battle.	Enemy.	Title.
1. Khēdaga ...	Vajjvala	Samara dhurandhara.
2. Gōnūr bayal ...	Nolambas	Viramārtāṇḍa.
3. Ucchangi Kōṭe ...	Rājāyta	Raṇa ranga Singa
4. Bāgeyūr Kōṭa ...	Tribhuvana Vira (the rival of Govindara) ...	Vairikula Kāla daṇḍa.
5. Fort of Nṛpa Kāma	Bāsa, Sivara, Kuṇanka ...	Bhuja Vikrama.
6.	Enemy who killed cāvunḍarāya's younger brother Nagavarma ...	Chaladanka Ganga.
7.	Gangara Bhaṭa Mudu Rāchayya.	Samara Parasu Rāma.
8	Jaṭṭigas	Pratipakṣa Rākkṣasa.

His master was Jaga dēva Vīra Nolamba Kulāntaka and his guru was Ajita Sēna of Śena gaṇa, whose parampara is thus mentioned :—

1. Vīra Sēna I
2. Jina sena II (837 A.C.)
3. Guṇabhadra (897 „)
4. Sarvasādhu Bhattāraka.
5. Dharmasēna of Candrikāvāṭavāsa (*E.C. II*, No. *24* ?)
6. Kumara sēna of Muḷgunda and Kopaṇa
   - Kanakasēna 903 A. C. (*J B B O R. A.S.X.*) (*E.C. III* Mal 30 and sg. pt 147)
7. Nāgasēna (E. C. II no. 34 ?)
8. Vira Sēna II ... ...
   - Guna sēna
     - Ananta vīrya 977 A. C (con. Rakkasa Ganga, E. C. I. Cg. 4)
9. Candra Sēna
10. Aryanandi (E I. IV no. 15 ?)
11. Nayasēna (E. I. XVI. ?)
12. Ajita sēna (c. 974 A. C.)
    - Permādi (Chāvunḍa Rāya)
    - Anna
      - Jinsēna III.
        - Mallishēna (1046 A.C.)
    - Kanaka sēna
      - Narēndra Sēna, 1053 A.C.
        - Nayasēna sena)

In the *Cāritra* Sāra, Ranaranga sinha calls himself the disciple of Jinasena.

In the *Gommatasāra* of Nemi candra Gommaṭa Rāya is said to have been the disciple of Ajita sēna, whose guru was Ajja (Ārya) Sēna In the Karma Kānda, Ajita sēna Nemi Candra, Indranandi. (c 975) Kanakanandi Abhayanandi, Vīranandi, Simmala guru Indranandi (V. 16) are mentioned And there is the specific reference to Dakkhina Kakkuta Jina, established by Gommata Raya

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणोय ।
गोम्मटरायविणिम्मयदक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ।
गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण या कयादेसी ।
सो राओ चिरं काल णामेण य वीरमत्तण्डो ॥

As regards Vajjvaḷa dēva (who is said to have been defeated by Mārasimha Nolamba Kulantaka), one was the centemporary of Kṛshṇa III and Iṛiva Nolamba. *M.E.R.* 219 of 1932 mentions Vajjara dēva ruling Pulinādu under Kaṇṇadēva, where one Pṛthvirāma seṭṭi died at Mangala. *M.E.R.* 236 and 237 of 1932 also refer to Vajjara dēva ruling Pulināḍu, *M.E.R.* 580 of 1906 refers to Vajjala dēva of Embādi as a subordinate of Ballaha in Ś. 887 (965 A. D.). Therefore Vajjvaḷa dēva is not a Silāhāra as assumed by Fleet. (*E I. V* p 170 f. n. 5). But Cavuṇḍa defeated Vajjvala on the orders of Indra Rāja. Mārasimha alo is said to have enabled Indra Rāja to enter his capital Mānyakhēta. Fleet assumed that Indra mentioned in the Sravaṇa Belagoḷa inscription was placed on the Rāṣṭrākuṭa throne by Mārasimha. But there is no evidence that Indra (IV) was ever crowned, because Cālukya Tailapa had successfully usurped the power. Therefore it is suggested that Mārasimha enabled Nityavarsha Indra III (915—917 A C.), to became king (*Indian Historical Quarterly, June, 1930*). Therefore the Chief Vājjvala conquered by the order of Indra *IV* must have been a person of northern India, since Indra conquered Kanuj and Mahōdaya. This Vajjvala dēva may be Vajra Simha (Vairi Simha) Paramāra of Malwa, also called Vajraṭa (*E.I.* p. 237). He was deposed by the Prātihara Manipāla and fled to the Rāstrakūta country Mahīpāla invaded Kuntāla also but according to the evidence of the drama *Caṇḍa Kauśikam* the Karnātakas defeated him and occupied his country, According to Pampa's *Vikarmarjuna vijaya*, the Cālukya Chief Narasimha defeats Mahīpāla as a subordinate of India III. Therefore there is nothing improbable in Mārasimha and Cāvuṇḍa rāya being already active from 907 A. D.

If Eṛeyappa is Mahēndrāntaka Eṛeyappa, then the Chikka Hanasoge inscription referring to Kalnela dēva should also be placed in C 910 A.D. In Ś 829 Prabhava (907 A. D.) one Nāgavarma died fighting for Eṛeyappa and Ajavarma on the orders of Ganga fought with Nolamba and died (*Jl.* 19 E.C.XI) Sk. 284, *E. C.* VII. mentions Vikramādityā Sāntarasa and Eṛeya Permāḍiya Sānta (?) in Ś. 825 (903 A, D.) as the subordinates of Kṛshna II. *Sr.* 147 *E. C.* III refers

to Permānadı Erayappa and to Kumāra sēna Bhatāra of Kalbappu-tirtha. Fleet assıgned Ereyappa to 901—938 A C. (*E.I VI* p. 59). *Cd* 74, *E*. C. XI. says that ın Ś 890 Prabhava (968 A.D.) Jakki Sundari, the wife of Sūdraka, buılt a basadı in Kākambāle and the inscrıption mentıons Rāmacandra the disciple of Astōpavāsi, Balacandra bhalāra, Khehara Sakti, Gunacandra Kırti, Nāganandi and Kumāra Kirti dēva. Thıs *astopavāsi* was probably the same as Kelnele dēva the disciple of Ēlācārya. Since Indranandin's Jvālā maliṅi kalpa was written after Ēlācarya, and in the times of Rāstra kūṭa Kṛshna III (939—966 A. D.), there is nothing to prevent Ēlā carya and Kalnele dēva being assigned to c. 900 A. C. and Nemicandra himself may have to be assigned to c. 925 A. C. Therefore it is highly probable that the image of Srī Gommaṭēśvara was installed ın c. 907-8 A. C.

ŚRAVAṆA BELGOḶA—ITS SECULAR IMPORTANCE

BY

Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (Lond.)

As is well known Śravaṇa Belgoḷa has been considered by the Jainas all over India as one of their most sacred spots in this country. Indeed, its religious importance has been so great that few have ever cared to enquire of its secular position in the civic life of the people. It is the object of this paper to show how for centuries this sacred place of Jaina pilgrimage was also noted for its material wealth. The remarks that follow are based on some of the many inscriptions that have been discovered in and around Śravana Belgoḷa.

" In the whole beautiful State of Mysore it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here"[1] This opinion of a modern foreign traveller is certainly justified. For the Jainas, much more than the Hindus, had a rare conception of scenic beauty and a gift of selecting delightful spots which were suited for religous meditation as well as for furthering the cause of material existence. Śravaṇa Belgoḷa was essentially one such spot.

That even in the earliest times the Jainas were aware of this double-sided importance of their centres is evident from one of the oldest stone inscriptions on Candragiri or Cikkabeṭṭa at Śravaṇa Belgoḷa. This epigraph, which has been rightly assigned to about A. D. 600, informs us that the great Bhadrabāhu-svāmi, having learned from an omen and foretold in Ujjain a calamity lasting for a period of twelve years, led the entire *sangha* (or community) to the south. " and reached by degrees a country counting many hundreds of villages and filled with happy people, wealth,

---

1. Workman, W. H and W. J., *Through Town and Jungle*, p 80 (London, 1904) ; Narasimhacharya, *Epigraphia Carnlica, II*, Intr. p 2.

gold, grain, and herds of cows, buffaloes, goats, and sheep"[2] In other words, when that celebrated Śrutakevali selected this southern centre for his *sangha*, he made it clear to the world that the Jainas were going to a region that was economically—as we would put it in our own days – self-sufficient and prosperous.

This economic importance Sravana Belgōḷa maintained almost till own days, and lost it. as many hundreds of centres have lost, because of the altered nature of the times and the onrush of the forces of the modern world.

An examination of the epigraphs ranging from the twelfth to the sixteenth centuries A. D will reveal that the commercial life of the people of Śravana Belgola was marked by some special features. The most noticeable of these was their intense devoutness and patriotism. In early and mediaeval times in the South, we note that patriotism went hand in hand with religion The merchants of Śravana Belgola were no exception to this rule We shall prove this from examples relating to all the merchants of that place, and not to particular individuals. In about A. D 1175, for example, all the merchants of Śravaṇa Belgola, as is related in two stone

---

2 *Epigraphia Carnatica, ibid,* I, p 1 My assertion that this great Śrutakevali was the first Gaṇadhara (*Mediaeval Jainism*, p. 3) has been called one of my 'conspicuous errors of facts' by a critic in the *New Indian Antiquary* for *May, 1939*, p 132 I relied for this detail concerning the great Bhadrabāhu on Dr R. Shama Sastry's *Mysore Archaological Report for 1923*, p 26, para 67 It is a great pity that I didnot cite this reference which, from the point of view of theabove critic, may also have been a "conspicuous error of fact" On reading the review of my work sent in advance to me for insertion in the NIA, I wrote atonce to Dr R Shama Satry and received from him the following note in his letter dated 9th February 1939 :—"Bhadrabāhu was not really a Gaṇadhara, but out of respect he was spoken of as a Gaṇadhara in some Jaina manuscripts and I copied it, I do not now remember the no of the manuscript . . " It will be evident to the reader, therefore, that in committing "a conspicuous error of fact," I have sinned in excellent company As regards the other "conspicuous errors of facts" noted by the critic, I have dealt with them elsewhere, "in the interest of Jaina studies" B A S.

inscriptions assigned to that date, pledged themselves to pay annually for as long as the sun, moon, and stars endure, certain specified dues, to provide for flowers for Gommatadeva and Pārśvadeva. These merchants, we may observe, were " endowed with all good qualities ", and are said in the two inscriptions to have been " of the holy place Beḷuguḷa " It is interesting to observe in this connection that it was not only men who thus gave evidence of their devoutness, but women as well. One of the two records expressly relates that " To provide for flowers for Gummatadeva, all the merchants of the holy place Beḷuguḷa, including Gummi Seṭṭ's Dasaiya, Lokeya-Sahani's daughter Somavve and all the citizens (*samsta-nakharangaḷu*), having purchased certain lands (specified with their location) from the assembly, made over the same to the garland-maker as a perpetual gift [3]

The merchants Mosale, which seems to have been perhaps a neighbouring place, too, showed their devotion in a like manner. For in about A. D. 1185 the merchants of Mosaḷe pledged themselves to give annually, as a perpetual gift, certain specified amounts, for the eight kinds of worship of the Tîrthakaras set up by that large-hearted Jaina merchant leader of Śravaṇa Belgoḷa, Basavi Śeṭṭi.[4]

The fact that Basavi Seṭṭi is called in one of the records the *vadda-vyavahāri* or Senior-most Merchant,[5] suggests that the merchants of Mosaḷe had gradations of honour amongst them. We can see this better when we examine a record which specifically mentions the highest civic official of Śravaṇa Belgoḷa This inscription has been assigned to about A. D. 1179. It relates that Malli Seṭṭi, the *Pattanasvāmi* (or Lord Mayor) of Gommaṭapura, along with Gaṇḍanārāyana Seṭṭi and the group of chief merchants (*mukhyavāda nakhara-samūha*), having assembled made an agreement which is registered in the record. The broad-mindedness of the Śravana Belgoḷa merchants is seen from the concluding lines of this epigraph

3. *Ibid*, 241, 242, pp. 103, 104.
4. „ 236, p. 101.
5. „ 235, p. 101.

which run thus:—"May those persons who maintain this with affection enjoy long life and great prosperity! The wicked man who, without maintaining, violates this, shall incur the infamy of having slaughtered on the site of Kuruksetra and in Vāranāsi seven crores of eminent sages, tawny cows, and men learned in the Vedas."[6] Evidently to the generous Jainas of the middle ages there was no distinction between Kurukṣetra and Śravana Belgola, and the Vedas and the Jaina Sidhānta.

That the Jainas of Śravana Belgola were organized in commercial guilds is evident not only from the above records but also from the one following in which we have clear evidence of the corporate life of the merchants of that holy place The inscription in question has been assigned to about A D 1206. In this record the Jaina *guru* Nayakirti-deva, who is to be distinguished from his famous namesake, who is rightly called in the same inscription "the king of asectics," is said to have given to all the merchants of the holy place Belgoḷa, in the presence of the *Senior Māṇikya-bhandāri* Rāma-deva Nāyaka, the minister of the Hoysala king Someśvara Deva, a charter which ran as follows .—

"For house-tax at Gommatapura, beginning from the year Akṣaya and for as long as the moon, sun, and stars endure, the residents shall pay eight *hanas* (once for all) as the capital on which one *hana* can be realized (as interest), and live in peace This includes the mills of oilmen. In case the imposts (named in detail) of the palace came to be levied, the *Acārya* of the place shall himself pay and settle the matter; it is no concern of the residents Those who violate the terms of this charter are destroyers of Dharma-sthala (which is evidently Śravaṇa Belgoḷa) If among the merchants of this holy place one or two, posing as leaders, teach the Ācārya deceit, and, causing confusion by taking one thing for another, encourage him to covet a *hāga* and a *bele* and ask for more, they are traitors to the creed, traitors to the king, enemies of the Bananjigas, gamblers (*nettagayaru*), perpetrators of murder and plunder. If knowing this the merchants are indifferent, they alone are the

6. *Ibid* 397, p. 169

destroyers of this charity and not the Ācārya and the wicked. If without the consent of the merchants one or two leaders enter into the Ācārya's house or the palace, they shall be traitors to the creed. With regard to privileges, former usage shall be followed. Those who destroy this usage shall incur the sin of having slaughtered tawny cows and Brahmans on the banks of the Ganges."[7]

From the above charter the following conclusions may be drawn;—Firstly, Śravaṇa Belgoḷa was a sort of a Free City, the house and mill taxes of which were collected not under orders from the Palace (*i.e.*, the king, or the State) but from the Ācārya of the place (*i.e.*, the Pontiff). Secondly, it was the Ācārya who was responsible to the State for the imposts of Government, and who leased the right of collecting taxes to the merchants-guilds. Thirdly, this was done in the presence of the highest official of the State – the minister—in order to make the agreement legal. Fourthly, the Ācārya, like his disciples, was intensely patriotic, as is evident from the clause relating to the treason to the king. Fifthly, there seems to have been evil persons in Śravaṇa Belgoḷa who, then as now, posing themselves as leaders looked to their own profit at the expense of both the holy place and the State. And, finally, the Jainas considered the Brahmans and Benares with the same reverence as they considered their *gurus* and Śravaṇa Belgoḷa.

How famous the merchants of this holy place were is evident from an inscription dated A. D. 1195 which informs us that they were "born in the eminent line of Khaṇḍali and Mūḷabhadra, devoted to truth and purity, possessed of the lion's valour, skilled in conducting various kinds of trade with many sea-ports, adorned with the famous three jewels, the merchants residing at the holy place Beḷuguḷa acquired celebrity on earth."

From the same inscription date A. D. 1195 we learn about another special feature of the commercial life of the merchants of Śravaṇa Belgola. This is related to the very high place they occupied in the civic life of the people. The merchants of Śravaṇa Belgoḷa

7. *Ibid*, 333, pp. 140—141.

were in charge of the religious endowments of that city. The same record informs us that the merchants of that centre "were the protectors of that Jinālaya" (i.e., the famous Nagara Jinālaya of Śravaṇa Belgola.[8]

Even in later ages the merchants of Śravana Belgoḷa were in charge of the public charities of that centre. Thus in about A. D. 1274 the jewel merchants and the *elavi* (?), it was agreed upon, were to look after the charity which was made by some one whose name is not mentioned in the record But we are informed that a perpetual endowment of four *gadyānas* was made as an act of reverence to the memory of Medhāvi Seṭṭi of Bārakanūr, the lay disciple of Prabhācandra Bhattāraka, with the condition that three *monas* of milk should be supplied every day as long as the sun and the moon last.[9] In about the same year another endowment of three *gadyānas* made by Keti Setti (descent stated), for the daily anointment of the god Gommatadeva, was also entrusted to the charge of the jewel merchants of Śravana Belgola.[10]

The extreme care with which they looked after the public charities entrusted to their charge is proved by an inscription dated A. D. 1288. This inscription relates the following:—That all the jewel merehants of the holy place Beḷugula and Jinanātha-pura (Mosaḷe ?), agreeing among themselves, gave a deed as follows:—"For the repairs (of the temple) of the god Ādi of the Nagara-Jinālaya, temple vessele, etc., and services, all the merchants of those two cities granted, with pouring of water, to continue for as long as the sun, the moon, and the stars endure, *davana* (?) at the rate of one *gadyāna* for every hundred *gadyanas* of *davana* received from either local men or foreigners, for the god Ādi." The concluding lines of this deed clearly prove the solidarity of the merchants, their intense patriotism, and their honesty of purpose. "If any one denies or conceals (his income)

8 *Ibid*, 335, p. 143
9. „ 244, p 104
10. *Ibid*, 245, p 104. *Cf* No 246, dated also in about the same year, for a similar example Page 104—105.

in this matter, his race shall be childless; he shall be a traitor to the god, a traitor to the king, and a traitor to the creed. The signature of all the merchants—Śrī Gommaṭa."[11]

That the merchants of Śravaṇa Belgoḷa asserted their rights when injustice prevailed is evident from another record dated A. D. 1296. In this inscription we have the interesting information of the assemblies of Jaina *gurus* and leaders remitting certain taxes, and the merchants utilizing the same for a benevolent purpose. It relates that in A. D. 1296 the assemblies of the Mūla-sangha, consisting of *mahāmaṇḍalācāryas* and *rājagurus*, having remitted certain taxes, saying "We will not take any of these (five taxes, named), or any others, is respect of the *devadāna* wet and dry lands of the gods Gommaṭadeva, Kamaṭha-Pārśvadeva, and Devaravallabhadeva of Bhaṇḍārayayya's *basadi*, or (of the gods) of other *basadis*," all the jewel merchants of the holy place Beḷuguḷa, the *gauḍa-prajegal* (citizen- representatives) of Kabbāhunātha-Aruvana, and others granted, for the enjoyment of Devaravallabhadeva, five *gadyāṇas* which a certain official named Śambhudeva had unjustly levied as *maḷabhraya* (a kind of tax) from that god's village of Hūḍuvarahaḷḷi.[12]

The existence of jewel merchants and their guilds for centuries at Śravana Belgoḷa bespeaks great wealth and influence in that centre. But wealth brought with it pleasure and enjoyment, and this makes us refer to one more feature of Śravaṇa Belgoḷa. It is that referring to the existence of dancing girls in that city. These were in no way behind other citizens in their piety and large heartedness. An example of one such generous and devout dancing girl was that of Mangāyi. Two inscriptions, both of which are dated in about A. D. 1325, relate that she was the disciple of Abhinava Cārukīrti Paṇḍitācārya. She was "a crest-jewel of firm faith (in Jainism), and a crest-jewel of royal dancing girls." This devout dancing girl caused a famous *caityā'lya* named Tribhuvanacuḍāmaṇi

11. *Ibid*, 336 p. 144.
12. *Ibid*, 347, p 150,

to be built at Śravaṇa Belgoḷa.[13] For nearly two centuries this wonderful structure received public donations and charities. In about A. D. 1412 a citizen named Gummaṭaṇṇa of Gerasoppe repaired this *basadi*, along with four others, making gifts of food to one group of ascetics.[14] And in about A. D. 1500 the *gaudas* (citizens) including Nāgagoṇḍa of Belguḷanāḍu and Kalagoṇḍa of Muttaga Honnenahaḷḷi, granted to the same Tribhuvanacuḍāmaṇi *basadi* the wet and dry lands of Doḍanakaṭṭe.[15]

13 *Ibid*, 339, 341, p. 145.
14. *Ibid*, 342, p. 145.
15. *Ibid*, 340, p. 145.

MONASTIC LIFE IN SRAVAṆA BEḶGOḶA.

BY

R. N. Saletore, M.A. Ph. D.

Some light may be thrown on some features of monastic life of the Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa from the earliest times till the beginning of the 19th century, chiefly from inscriptions. Broadly their life may be divided into two spheres: religious and economic, the former, of course, depending on the latter in the sense that no monastic life or activity could either exist or survive without support from outside and this assistance was offered purely with the sole object of promoting the Jaina *Dharma.*

The Jaina monks of Sravana Belgoḷa appear to have paid considerable attention to scholarship. *Muni* Pujyapāda, for instance, was incomparable in grammar, skilfull in *Siddhnta,* poetry, and prosody. Another Jaina *guru* Prabhacandra was a celebrated author in logic.[1] Kaḷadhantu Srīdhara Deva, was skilled in *mantras* and medicine,[2] while Meghacandra of the *śrī* Mūla Saṅgha, was in Siddhānta equal to Jīnavriasena, in the six systems of logic like Akalanka and in all Grammar, Pūjyapāda.[3] Grammar, Poetry, Prosody, *Siddhānta,* Medicine and Logic appear, therefore to have been the principal subjects in which the monks of Sravaṇa Belgoḷa strove to achieve distinction and for which they devoted their quiet lives.[4]

These monks apparently lived in communities called *saṅghās,* of which, at least in Sravaṇa Belgoḷa, there were three if not four separate divisions. They were known as the Kelaṭūr[5], Mayūra,

---

1. *E. C.,* II, *Inscriptions* at *Sravaṇa Belgoḷa,* 40, p. 121. The references henceforth given are to the inscriptions given in this work.

2 42, p. 123.

3. 47, p. 127.

4 *Cf.* Studies in the Nālanda Monastery, Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. *The Life of Hiuen-Tsiang,* p. 112. (Beal).

5. 33, p. 119.

(which was probably the same as the Navilūra)[1] and the most important of all and perhaps the orignal, the śrī Mūla.[2] Little is known about the Kelatūra *Sangha* but of that of Navilūra mention is made of the great Anantamatī Guruva Nandi and his disciple Nandi *Munīsa*, who belonged to this congregation at various times. It is interesting to note that the Mayūra *Sangha* is called a *Grāma Sangha*, probably indicating its origin. But the most prominent of all these was evidently the śrī Mūla, the leaders of which have traced their leadership to Mahāvīra and Bhadrabāhu It was customary for them when addressed to be given their spiritual designation especially in contemporary inscriptions. Kukkutāsana Maladhāri Deva, for example, is said to have belonged to the Arhata Samaya, (which was from the beginning the Mūla *Sangha*) the Kondakundānvaya, of the Desīya Gana and the Pustakagachha. They had spiritual as well as lay disciples. The spirtual disciple of this monk was the famous Subhācandra Siddānta Deva, while his lay follwer was Ganga Camūpati as is recorded in an epigraph dated A D. 1117.[3]

One of the most important aspects of Jaina monasticism was the nature of their corporate of life, for it must be remembered that the Jaina monks lived in spiritual brotherhoods in select places. Bhadrabāhu is recorded to have arrived at "a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats."[4] In such places the Jaina monks lived, especially on the bounty of the pious rich as well the poor Grants of land were generally made at the request of the Jaina monks, although voluntary contributions were not unknown. A record of A. D. 670 reveals how a plot of land was granted at the request of one Arasi, obviously a Jaina monk and the details of the plot are also specified.[5] It is interesting to know how

1 28, p 118, 29. p. 119.
2 27, 29, p 118
3. 45, p. 126
4 1, p. 115
5. 24, p. 118.

such grants were made from time to time. So early as A D 1131, one Siriya Devi, the daughter of Bala Deva *Dannāyaka*, in order to provide in the Svati Gandha Vārṇa Jina temple at Belgoḷa, for the divine worship, gifts of food to the assembly of *rishis*, and for repairs, presented the village of Matta-Navile in Kalkaṇi-nāḍ and an irrigation garden of fifty *Kolagas* in the middle plain of Gangasamudra. Deposting 40 *gadyaṇas* of gold and asking permission of the reigning king Visṇuvardhana Deva Hoysala, and washing the feet of her *guru* Prabhācandra Siddhānta Deva of the Śri Mūla *Sangha*, she made over this gift, free of all dues [1] From this record it may be inferred that such an award was made with a threefold object; the maintenance of divine worship, the livelihood of the Jaina monks, and the repairs of the *basadis* is which they lived Not only arable, but also productive land was given, and if, as in this case, it was State property, (for all land in Karṇataka, at least, was not State property) it was granted after obtaining the formal sanction of the reigning king, and what is more important, free of all imposts. Some times such plots of land, with floral crowns (*hūvina padige*), were given over to the " hand " of the *Mahānāyakācārya.*[2] Land was actually purchased before a gift was made. Even so late as A. D. 1409, it is related how a *dānasāle* paddy field of one *khanduga* under the Gangasamudra tank of Belgoḷa was purchased (*kramavāgi kondu kottu*) by one Gummata Deva " in the regular manner " in the presence of the chief citizens of Belgola, and, after performing worship at the feet of the god, was given as a gift.[3] When such a grant of land was made to the Jaina monks of Sravaṇa Belgola, its boundaries were clearly specified. In A D. 1196, for instance, the limits of a plot were thus specified: " the *modaleri* garden, in the *volagere* to the left of the Nagara Jinālaya; six *salage* of pady field, below the pond before Udaka's house 10

1 53, pp 133-34

2. 56, pp 143-44 89 p. 156 The date of this record is not verifiable

3 107 pp. 165-66, *Note* · This custom of bestowing endowments. was in great vogue among the Buddhist monastries The Nalānda monastery was very prosperous owing to such grants *Cf* Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. op. cit. pp. 112-13.

Nāgadeva Heggaḍe, who presented it to Śri Gomata Deva.[1] In order to keep in tact the award so made, sometimes formal agreements were made between the Jaina monks on the one hand and the donors on the other. Such a pact can best be illustrated by an example. In A. D. 1280 the officiating priests (*pūjakārigaluodambattu*) of the Nakhara Jinālaya, made the following agreement with all the citizens of the Belgola *tīrtha*. The wet and dry lands of this temple were to be cultivated and " devoting the produce to the eight kinks of worship of the god (we) will make without fail the offerings appointed by the citizens. *Whoso of our family shall sell, mortgage or give on contract the wet and dry lands bestowed upon the god, is a traitor to the king and a traitor to the congregation* Thus have we agreed and written "[2] Therefore such a pact implied that it was binding on the priests to observe unfailingly the appointed rites and not to either sell, mortgage or give on contract any of the gifted lands. The income and expenditure of such properties must have been watched as can be inferred from an inscription, dated A D. 1296. In this year the assembly of the Śrī Mūla *Sangha* decided first, that whatever they had been obtained as income from the paddy-lands and dry-fields, together with the waste land, the fire-wood, leave, decay of the *basadi* house and so forth, was to continue in tact. Secondly, all the jewel-citizens (jewellers) of Belgola, the farmers and subjects, ordained that five *gadyana*, which a certain Śambhu Deva had *unlawfully* disposed of to Srī Vallabha Deva's Hāḍuvarahalli, should be expended on the festivals of those gods and that the eight rights of possession, with the petty taxes (*kirkula*), whatever they might be, of that village, should be expended on the festivals of those gods and Vallabhadeva Such a decision implied that wrongful appropriation from one head to another head of account was not tolerated and was branded as " *unlawful* " (*anyāyavāgi malabrayavāgi*)[3] Moreover it meant that income from one specified plot of land was to be

1. 122, p 172.

2. 134, p. 178, text p. 99 ātu mādipadam rāja d(r)ohi samay d(r) Drohigalendu Italics mine

3 137, (c), p. 183

expended on that plot alone and to no where else, thus bringing into common use the vital principle of self-sufficiency, which was so essential in maintaining the corporate life of the Jaina *Sangha.*

Some further details of such an agreement can be made out from a grant of A. D. 1266 when a settlement was made between the Jaina *Sangha* of Sravaṇa Belgoḷa and the local merchant devotees. In this year Nayakīrti Deva set down, for all the Nāgartās of Gomaṭapura, in the presence of the senior treasurer (*hiriyamāṇikya bhandāri*) Rāma Deva Nāyaka, Minister of Someśvara Deva, son of Vīra Ballāḷa II, the following decree :—

(*a*) For (each ?) house in Gomatapura the *monied* were to pay 8 *hana* on their stock (or capital) and remain in peace.

(*b*) Among the mills of oil-mongers, *whatever justice or injustice of the palace*, (whatever) loss or expense may come, the *Ācārī* of that place must himself stipulate and recover the dues : there was to be no charge on families.[1]

From this order it may be concluded that, in the thirteenth century, the monks of Sravana Belgoḷa charged and recovered the house-tax (*mane dere*) and the oil-mongers dues (*teligāra-gāna.*) As the house-tax was recovered only from the wealthy, it could not have affected the poor. But, on the other hand, despite the dues of the king, whether legitimate or not, whether they made a profit or suffered a loss, the oil-mongers were obliged to pay the stipulated dues which, unfortunately, appear to have been left to the discretion of the local *ācārī*, who perhaps was expected to know the local conditions better than the monastery officials entrusted with the recovery of the other dues. When such a charge was imposed the tax on families as units was exempt, which shows that the Jaina monks did not dare to stretch the weapon of taxation too far.

1. 128, p. 176 : Āgi haṇa-vondara modalinge ...haṇa vondara modalinge entu-haṇavau sukhav ipparu-teligāra gāna volagāgi aramaneya nyāyav anyāyam ola-braya ēnum bandaḍam *ā sthaladācāryyaru tāve tettu nirnnasivaru okkala kāraṇa kathey illa.*—*Note* I have changed the translation of the lines underlined, as I nsider my interpretation to be clearer.

several assistants and the accounts section must have formed the main department of finance in the Jaina monastry at Sravana Belgola. Of course, there were some other officials as well; for mention is made of the writers (*lekhaka*) and the engravers (*ācāri*) who were entrusted with the publication of the *basadi* inscriptions.[1]

Here, within the sacred precints of the *basadi* the Jaina priests lived and passed away. Their practice of *sallekhana* must have an extremly trying and difficult feat to men as well as women who perished in this way. In A. D. 1131 one Māciyabbe "with eyes half closed, repeating the five words (or phrases),[2] glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relatives, absorbed in the vow of a *sanyāsi* ", perished.[3] Those who were so resolved starved from three days to one month,[4] at the end of which they must have succumbed. Great was their faith for they always cried out: "Māy the honourable supreme profound *syād-vāda*, a fruit-bearing token. the doctrine of the lords of the three worlds, the Jaina doctrine, prevail."

1. 44, p 125
2. *Note*: they are *Namo Arahantāṇam* Namoh *sidhāṇam*: *Namoh āyuyyāṇam*. *Namoh ovaj-jhāyāṇam* *Namoh lō sabba sāhuṇam*
3. 53, p 132
4. 54, p 140, 55. p 144, 13 p 117, 5, 8, p 116 *Note* —This religious death is described by Āyita Varmma in his *Ratna Karaṇḍaka* It seems to have prevailed in the Roman Empire and among the Albigenses it was called *Endura Cf* Lecky, *History of Morals in Europe* I, p 231, II, p. 52.

DATE OF MALAYAGIRI SŪRI

BY

P. K. Godo, M. A.

Winternitz[1] in his *History of Indian Literature* states that a MS of Malayagiri's Commentary on *Karmaprakṛti* is dated *1395 A. D.*, a MS of the Commentary on the Nandi Sūtra is dated *1235 A D.*, a MS of the Commentary on the Vyavahāra Sūtra is dated 1253 A.D. Peterson [2] refers to the several works of Malayagiri and states that this writer's *Śabdānuśāsana* was written in the reign of Kumārapāla. Kielhorn [3] states that one of Malayagiri's works was composed in Kumārapāla's reign between 1143 and 1174 A.D. I wonder why Winternitz has not recorded the above date for Malayagiri as given by Kielhorn and referred to by Peterson. In case he had any doubts in accepting the date given by Kielhorn we shall have to see if these doubts are justified on the strength of other evidence in support or against Kielhorn's date for Malayagiri.[4]

In the *Catalogue of Manuscripts* in the Jain Bhandars at Patan there are certain dated MSS. of works, the author of which is stated to be Malayagiri. These MSS may be recorded as follows with their dates :—

Page	Work	Saṁvat.	A. D.	Place of Deposit.
22	पडशीति (सटोक) मू० जिनवल्लभ टीका of मलयगिरि।	1332	1276	Saṅghavi Pāḍā Bhāṇḍār.
43	षडशीति वृत्ति by मलयगिरि।	1258	**1192**	Do.
94	संग्रहणी वृत्ति by मलयगिरि।	1290	1234	Do.
98	सप्ततिका टीका by मलयगिरि।	1221	**1165**	Do.
201	चंद्रप्रज्ञप्ति टीका	1480	1424	Do.

1. *His. of Ind. Lit.*, Vol. II, 1933 (Calcutta Univ.) p. 592 fn. 2.

2. *Fourth Report*, 1894, Index of Authors p. lxxxviii.

Works of Malayagiri mentioned by Peterson are :—

(1) व्यवहारसूत्रटीका, । (2) पञ्चसंग्रहटीका । (3) नन्द्यध्ययनटीका । (4) कर्मप्रकृतिटीका । (5) सप्ततिकाटीका । (6) प्रज्ञापनासूत्रटीका । (7) चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र टीका । (8) सूर्यप्रज्ञप्ति टीका । (9) शब्दानुशासन ।

3. *Report on Palm-leaf MSS* (1880-81), p. 45—Kielhorn observes :—"The instance अदहदरातीन्कुमारपालः on folio 255(b) proves that the work was composed in the reign of Kumārapāla *between 1143 and 1174 A. D.*"

4. Compiled by Dalal and Gandhi, Baroda, Vol. I, 1937.

Page	Work	Samvat	A. D	Place of Deposit
202	सित्तरिवृत्ति by मलयगिरि।	1462	1406	Saṅghavı Pādā Bhāndār.
232	धर्मसङ्ग्रहणीटीका by मलयगिरि।	1437	1381	Do.
231	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि।	1481	1425	Do.
239	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि।	1483	1427	Do
311	आवश्यकवृत्ति by मलयगिरि।	1446	1390	Saṅgha Bhāndāra
397	कर्मप्रकृतिवृत्ति by मलयगिरि।	1331	1275	Tapāgachha Bhāṇḍāra (Phophalıa Wada).

In *the Catalogue of Jesalmere MSS*[1] we find the following dated MSS. of works ascribed to मलयगिरि —

Page	Work	Samvat	A D	Place of Deposit.
18	आवश्यक बृहद्वृत्ति by मलयगिरि।	1491	1335	Bıg Bhāndāra at Jesalmere
43	राजप्रश्नीयवृत्ति by मलयगिरि।	1488	1432	Do
23	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि।	1488	1432	Do
42	जीवाभिगमवृत्ति by मलयगिरि।	1489	1433	Do.
13	नंदीटीका by मलयगिरि।	1488	1432	Do.
39	पिंडनियुक्तिवृत्ति by मलयगिरि।	1489	1433	Do
41	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति by मलयगिरि।	1289	**1233**	Do
36	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि।	1490	1434	Do.
37	बृहत्कल्पपीठिका by मलयगिरि।	1378	1322	Do
18	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि।	1490	1434	Do.
35	संग्रहणीटीका by मलयगिरि।	1296	1240	Do.
24	सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति by मलयगिरि।	1489	1433	Do.

1. By C. D Dalal, Baroda 1923.

It will be seen from the two foregoing tables of dated MSS. ascribed to Malayagiri that they were copied in the years A. D. *1165*, *1192*, *1233*, *1234*, 1240, 1275, 1276, 1322, 1335, 1381, 1390, 1406, 1424, 1425, 1427, 1432, 1433, 1434. The earliest dated MS. of Malayagiri's work recorded by Winternitz is dated A. D. *1235* while in the above chronological tables we have four MSS. of Malayagiri's works[1] bearing dates earlier than A. D. 1235 *viz.*, A D. *1165, 1192, 1233* and *1234*. According to Kielhorn Malayagiri wrote during King Kumārapāla's reign *i.e., between A. D. 1143* and *1174*. This statement, though not mentioned by Winternitz and accepted, appears to be corroborated by the dates A. D. *1165* and *1192* of Malayagiri's two works सप्ततिकाटीका and षडशीतिवृत्ति. We may, therefore, safely fix A. D. 1165 as one of the limits for the date of Malayagiri, the other limit being about A. D. 1050 as will be seen from the following evidence :—

Malayagiri in his Commentary on the *Āvaśyakasūtra* mentions Prajñyākaragupta and quotes a verse[2] from his work as follows :—

"उक्तं च प्रज्ञाकरगुप्तेन—

"यथा वा प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना ।
तथा शब्दोऽपि किं वायोः प्रतीपं कोऽपि शब्दवित् ॥"

This appears to me to be a quotation from one of the Sanskrit works of Prajñākara Gupta who was a Buddhist logician belonging to *about 940 A. D.*[3] It may be possible for students of Buddhist

---

1. For the names of works of Malayagiri vide *Jain-Granthāvali*, pp. 4, 6, 8, 10 14 18, 20, 40, 42, 64, 100, 115, 117, 119, 120, 125.

2. Vide folio 29a of the Pothi Edition of the Āvaśyakasūtra with Malayagiri's Commentary (Āgamodaya Samiti No 56) 1928.

3 Vide p 336 of the *History of Indian Logic* by S Vidyabhushan, Calcutta, 1921. Prajñākara Gupta lived at the time of Maha Pāla, who died in 940 A D He wrote the following works —

1. *Pramāṇavārtikālaṃkāra*, a commentary on the *Pramāṇavārtika* of Dharmakīrti. Vidyabhushan states that the Sanskrit original of this work of P. Gupta appears to be lost Recently, however, the work has been recovered and edited by Rahula Sankṛtyāyana in the *Journal of the Bihar and Orissa Res Soc* Vol. XXI, Part II (1935) There is also a Tibetan translation of the work.

2. *Sahāvalambaniścaya*—The Sanskrit original of this work also appears to be lost according to Vidyabhuṣaṇ but there exists a Tibetan translation.

literature to trace the above verse in P. Gupta's one of the two Sanskrit works."[1] If the author of the name Prajñākara Gupta mentioned by Malayagiri is identical with the celebrated Buddhist logician of that name we may safely fix A. D. 1050 or so as the other limit to the date of Malayagiri. It would thus be seen that the date of Malayagirisūri may be taken to lie *between A. D. 1100 and 1175.*[2]

1. One of these two works viz, the *Pramāṇavārttikālaṃkāra* has been fortunately recovered for us by Rāhula Sāṅkṛtyāyana [Vide p 42 of *Jour. Bihar and Orissa Res. Soc.* Vol. XXI (March 1935)]. The MS described by him consists of 59 leaves and contains Chapters II and III of the work. This MS has been published in the June' 1935 issue of the above journal (pp 1 to 158) The published portion is fragmentary as it begins from the *Kārikā 330* of the text (vide p 63). It ends with *Kārikā 539* (p. 158) and is called प्रत्यक्षपरिच्छेद *Cf* Colopon "प्रमाणवार्तिकालङ्कारे पत्यक्षपरिच्छेदो द्वितोय:" which corresponds to the 3rd *Pariccheda* of the text of the *Pramāṇavārttika* as stated by the Editor in the footnote on p. 158.

2. In the *Abhidhānarājendra* Vol VI (1923) p. 156 there is a small article on Malayagiri but it contains no historical information about this author. The compilers of this encyclopaedia, however observe —
" मलयगिरे समयो गुरुपरंपरादिकं च न ज्ञायते तथापि हरिभद्रसूरेरर्वाक्तन इति ज्ञायते"
The date of Haribhadrasūri is about 750 A. D.

BEḶGOḶA AND BĀHUBALI.

BY

Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

In the mediaeval history of Jainism in the South, Śravaṇa Beḷgoḷa has been a place of great cultural importance. The greatness of Beḷgoḷa lies in the fact that it possesses certain features of lasting value: traditionally the place is associated with Bhadrabāhu and Candragupta Maurya, and the historical value of this tradition is now accepted by the standard authorities; it possesses a large number of Inscriptions which are important from the historical, linguistic and literary points of view; there is a Maṭha the spiritual heads of which have guided the social and moral destiny of the Jaina community in Karnāṭaka and round about for centuries together; there are beautiful temples and treasures of old MSS. of which any holy place would be proud; and last but not the least there is the grand image of Bāhubali on the top of the prominent hill there. For these and other reasons Beḷgoḷa is not only a holy place for the Jainas but also a place of cultural and historical importance to the students of South Indian History.

In the Hassan District of the Mysore State, just near Channarayapattan, Beḷgoḷa is very attractively situated near a nicely built square lake in a valley between two hills: Vindhyagiri and Candragiri. The name of the place is probably derived from Beḷ (meaning, white) goḷ (meaning, pond) referring to the splendid square lake which is mentioned in the local inscriptions as Dhavala or Śveta Sarovara. Workman rightly said: 'In the whole beautiful state of Mysore it would be hard to find a spot where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here'. The name Vindhyagiri the migrating people must have brought with them from the North; while the name Candragiri appears to have been suggested by the fact that Candragupta Maurya, who came to the South with Bhadrabāhu, as a tradition of much authenticity and sufficient antiquity tells us, breathed his last on this hill. Candragiri is also

at a discount and hypocracy is the fashion of the day; ethical standards are being easily smashed with no just substitutes being put in their places; the scientist has achieved great things, but he is playing in the hands of the politician, capitalist and the mad nationalist; today the world is made a big family which has one mind but unfortunately not one heart, competition and exploitation backed by brutal force are the current coins in the socalled international affairs, and mutual good will and sympathy are no more there; property is more valuable than humanity; love, liberty, justice etc, have become hollow terms of fashionable use; language is not being used for mutual understanding but to misinterpret and twist the simple facts and to mislead and deceive each others; motives are conveniently concealed and downright liars are hailed as diplomats; most barbarous and carnivorous crimes are committed under the decent names of civilization and nationalism, and palpably false reports are shamelessly broadcast to the reading and hearing public: in short, the materialistic forces switched on by abnormal possessive instincts are shaking today the very nerves of the human society. At such a critical hour in the history of mankind, I can only pray that Bāhubali's life and his image that stand for all that is true, beneficial, and beautiful, might inspire in us permanent ethical and spiritual values and lead us on from darkness to light:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं वीपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥
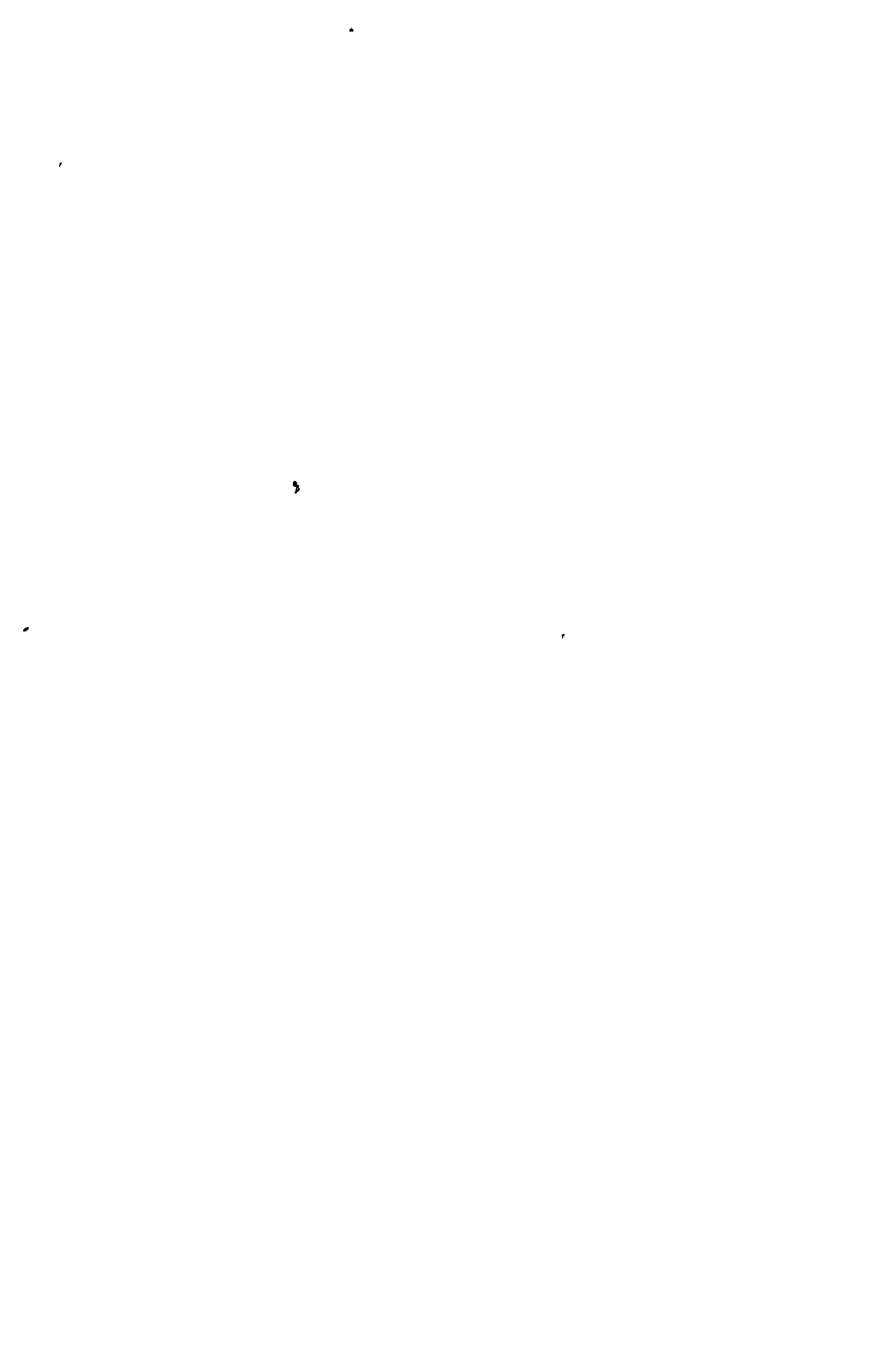
विंध्यगिरि

(श्रीजैन दिगम्बर ट्रेडिंग कम्पनी श्रवणबेलगोल के सौजन्य से)

ŚRAVAṆA BELGOḶA.

ITS MEANING AND MESSAGE.

BY

Prof. S. R. Sharma, M.A.

A thousand thoughts come crowding in my mind as I write, in response to the call to contribute, to this special number of the *Jaina Antiquary.* It was indeed a very happy idea to bring out this symposium on the eve of the great Abhiṣeka which is shortly to take place. As the recent appeal of Sir Mirza Ismail rightly indicated, Śravana Beḷgoḷa is not merely of sectarian interest; it is a national treasure. Like the Tāj Mahal and the Kailās Temple, the colossus at Belgoḷa has attracted universal admiration. It is well to bear in mind, however, that without underestimating the value of the magnificent Āgrā monument and the marvellous Ellorā excavation, the significance of the Jaina memorials in Mysore is deeper than the proud memories evoked by either the exquisite and enduring fossil of a doting Emperor's dreams, or the granite efflorescence of the artistic and architectural genius of the medieval Hindus. Great as these and other antiquities undoubtedly are, the meaning of the Mysore monuments is greater still.

Above all, to my mind, Śravan Beḷgoḷa is most typically *Indian,* for it enshrines the spirit of sacrifice in the cause of the Spirit which alone is Life. India has been the home of several religions and schools of thought, but through all of them—with the singular exception of the Cārvākas—runs one philosophy, one attitude towards Life, one Faith. That Faith is transcendental; it seeks liberation of the Soul from the trammels of mundane existence; it stands for the ultimate triumph of Spirit over matter. It is the shining beacon of Life across the wasteland of death, Life that is enduring and eternal.

The European may climb the highest peaks in the Alps and the Himalayas, may explore the icy corners of the Arctic and the Antarctic, may dive to the deepest depths of the Atlantic and the Pacific,

and fly to the utmost reaches of the stratosphere, but he staggers at the transcendental flights of the Indian philosophers His eyes have been trained to seek the truth through the microscope and the telescope, his mind has sought to study life in the laboratory through vivisection In the result, he has succeeded in enslaving matter; but the slave (matter) has also been holding the conqueror (Spirit) in bondage. Not so the Indian, where he has not ceased to be truly *Indian.*

Drunk with the pride of conquest the European may mock at what he considers to be our futile and inane philosophy But we have reason to believe that the inebriated Western people are getting more and more entangled in the labyrinth of their own making. If their titanic struggle may be best illustrated by the statue of Laocoon desperately caught in the coils of a deadly tangle of reptiles, the Spirit of ancient India is well represented by the colossal calm of the image of Bāhubali rising high over every other human structure, breathing freedom in its great silence. The superficial observer is likely to interpret this contrast in a different way: Does not the naked figure of Gommata show rather the static inactivity of the stagnant East, and the struggling Laocoon group the palpitating dynamism of the progressive West? But I should think that the real contrast is more like that of the restless maelstrom diving into the greater restlessness of the agitated Atlantic, on the one side, and the placid calm of the profound Pacific on the other.

However, this is only one aspect of the situation The human Spirit, which knows not the dychotomy of East and West, may be said to have gone to one extreme in India and naturally swung back to another extreme in Europe Truth lies not in the Golden Mean, not midway between the two extremes, but rather in the full amplitude of the swing of the pendulum of Life The midpoint represents only death, the Jaina philosophy does not stand for that It has been misrepresented as a philosophy of stagnation, seeking *death* rather than *life* The Jaina monuments are an eloquent refutation of this libel.

The Tirthaṅkaras did not stagnate into Nirvāṇa. They built a giant causeway across the dreary ford of death to the eternal fields of Life. Syādvāda and Anekānta are suggestive of all-sided comprehensiveness rather than of any one-sided obsession of mono-maniacs. Those who have understood Jainism correctly have characterised it as the most logically consistent of all philosophies. If this should be construed as constituting its main weakness—for Life is too complex to be logically consistent—, then the critics of Jainism should remember that it is not merely a 'philosophy' but also a 'way of life'; that it is not merely a body of thought or a bundle of doctrines, but it also enjoins a course of action and inculcates a code of discipline. Jainism is no more to be condemned as a negation of Life, than Christianity. If the latter is to be judged in terms of its influence over the lives of the Europeans during several centuries, the same should be the norm by which to assess the former. If christianity has made invaluable contribution to European civilization, so has Jainism enriched Indian civilization. If in the course of generation the Christians have resiled from the teachings of Christ, that cannot be a refutation of the positive gains to humanity from Christ's teachings. Likewise, if in the course of ages the Jainas have failed to live up to their ancient ideals, their historic contributions are not to be forgotten. Gratitude in both cases would demand sympathetic understanding from all; such understanding would not only lead to better appreciation, but also provide the corrective that modern living needs both here and elsewhere.

BAHUBALI STORY IN KANNAḌA LITERATURE.

BY

Prof K. G. Kundangar, M.A.

In the so far published Kannaḍa Literature the story of Bāhubali is first noticed in the Ādi-purāna of Ādi-Pampa (about 941 A D.) To relate it here will not be out of place. Bharata was the eldest son of Ādinātha, the first Tirthankara and his queen Yaśaḥsvati, and Bāhubali was born of his second wife Sunandā. On account of his unsurpassed beauty of person the latter got the names Chittaja, Chittabhava, Manasija, Ananga and Aṅgaja. When he was of proper age, his father taught him Kāmatantra, Sāmudrika, Āyurveda, Dhanurveda, Hastyaśvatantra, and Ratna-pariksā, (8—60 gadya) Bharata attained the height of 500 bow-lengths and Bāhubali 525.

When it was proper time for Vṛṣabhanātha to take dikṣā, the burden of the whole kingdom was thrown on his eldest son Bharata and Bāhubali was made the crown-prince The latter was given the management of Paudanapura torritory (9—65 gadya).

When Cakraratna was born in the Kośāgāra of Bharata, he went on a tour of world-conquest and returned to Ayodhyā His Cakra-ratna remained outside the city refusing to enter showing thereby that the conquest was not complete. After inquiry the emperor found that his brothers were to be conquered. He sent his envoys to Bāhubali and others to admit his suzerain power. All others except Bāhubali were unwilling to accept the offer. Neither were they able to face him. They, therefore took diksā. But Bāhubali received the envoy and acquainted himself with the purpose for which he had come to him. He refused to accept the suzerainty of Bharata and prepared for war. Hearing this Bharata marched on Paudanapura with his army. Both the brothers then agreed to fight each other to avoid blood-shed of the innocent soldiers. The emperor was successively defeated by his brother in Dṛstiyuddha Jalayuddha, Mallayuddha. Enraged at this defeat he discharged his discus on his brother. But that invincible weapon being unable to touch him went round him and stood at his right

shoulder. It was a very critical moment. Had Bāhubali thought of using that weapon on his elder brother he would have done so, killed his brother, and been himself the emperor. But he was a true Jaina. To him the moment proved to be one of internal awakening. He felt disgusted with the covetousness of empire in his brother, which showed no consideration even for a brother. This brought on him aversion for life. He took dīkṣā and performed severe penance. In spite of his mastery over Jaināgama he could not conquer his māna-kaṣāya, on account of which he was not soon blessed with Kevala-jñāna. This was pointed out to Bharata by Ādinātha. The hint was taken by him and Bāhubali was informed accordingly. Taking action on this suggestion he conquered that weakness of his and attained Kevala jñāna. In course of time he attained Mokṣa

In this Purāna, Ādi-Pampa does not mention of Bharata consecrating at Paudanapura the image of Bāhubali 525 bow-lengths high.

Cāvuṇḍarāya in his Cāvuṇḍarāya-purāna (about 978 A D.) gives the same story very briefly.

The third account appears in the Shravan-Belagula inscription No. 234 of about 1180 A. D. composed by Boppaṇa who had the title Sujanottaṁsa. It is this poet who, for the first time, relates the story of an image of 525 bow-lengths erected at Paudanapura by Bharata out of respect and affection for his brother Bāhubali. As time rolled on, the inscription further states, the region around the image having become infested with innumerable Kukkuṭa-sarpas (fowls with serpent heads) the statue came to be known as Kukkuteśvara. It afterwards became invisible to all except the initiated. But Cāvundarāya having heard a description of it set out with his mother with a desire of seeing it. Finding however that the journey was beyond his power owing to the distance and inaccessibility of the region, he resolved to erect such an image himself; and with great effort succeeded in getting the Image made and set up.

The fourth account is given by Pañcabāṇa in his Bhujabali-Carite (about 1614 A. D.). In this the author tells how Padmāvatī and Brahmadeva appeared in a dream before Cāvuṇḍarāya when

halting at Shravana-Belagula on his way to Paudanapura accompanied by his mother, and told him that Bāhubali was pleased with his devotion and would manifest himself to him on the Larger Hill if he would discharge a golden arrow from the Smaller one towards the former. The next morning he heard of a similar dream of his mother. Acting up to it he saw the head of the Image when the discharged arrow struck the rock on the Larger Hill. Afterwards the officiating priest of the place placed a diamond chisel and struck it with a diamond hammer. The layers of stone fell off and the Image became visible. This story based on such a miracle appears in Bhujabali-śataka of Doḍḍayya (about 1550 A. D.) in Sanskrit.

Gommaṭeśvara-carite of Ananta-kavi (about 1780 A. D.), Rājāvalikathe of Devacandra (about 1838 A. D.), and the Sthalapurāna of Shravana-Belagula are other works in Kannaḍa giving the story more or less in the strain of Bhujabali-śataka and Bhujabali-carite.

The Sthala-purāṇa gives one important and interesting information about the height of the Image. It says that Cāvunḍarāya heard of the existence of an Image 18 bows high at Shravana-Belagula. This information may be verified with the actual measurements of the Image taken.

The pedestal is designed to represent an open lotus, and upon this the artist has worked a scale corresponding to three feet four inches. This scale when multiplied by 18 gives approximately (60 feet) the height of the Image. The Image as measured is 57 feet in height A bow is generally of four cubits length, and 18 bow-lengths will make 72 feet. This brings in a difference of 15 feet in the actual measurement, and 12 feet difference according to the Sthala-purāna. But a cubit cannot always be of the same length. It will depend on the measurements of the sculptor who works at the Image. It may therefore be assumed that the scale given at the pedestal represents a bow-length, and that the Image goes 18 lengths with it. This assumption roughly solves the height problem in the present case.

NEW̄ STUDİES IN SOUTH INDIAN JȦINİSM.

III

ŚRAVAṆA BEḶGOḶA CULTURE.

BY

Prof. B, Seshagiri Rao.

---

g. (1)

In two previous papers in the *Jaina Antiquary.* I have outlined how ancient Jainism in South India had inspired its devotees to action and emotion. For, it is only when thought, doctrine or philosophy inspires and sublimates emotion and action, that it becomes a force not only in the lines of individuals, but also in those of communities and nations. And Śravaṇa Belgoḷa, being its most ancient and advanced *Karmakshētra* or practising and demonstrating ground or 'University,' in South India, and the present number of the *Jaina Antiquary* being specialised for the elucidation of its various phases of activity, through the ages, I shall gladly avail myself of this opportunity, so kindly given me by the Editor, to describe in some detail, how, from the Śravana Belgola Epigraphs, it appears to me to have functioned as centre of culture,—of *Siksha* and *Diksha.*

We often hear so very much about Jaina ascetics and asceticism, of Jaina scholars, their dialecties and philosophies, their *Raddhantas*[1] (राद्धान्त) and Siddhantas (सिद्धान्त), that we may be very strongly impressed with the idea that Jainism is for the intellectual few, —and even at that, for an elect, fortunate few, who can be fanatically and—as modern materialists may say, or the ancient epicurions said—'senselessly' stoic. But a proper appreciation of Jaina memorials will show that the Jaina Sages in ancient times *lived* their doctrine and their faith and easily made their desciples of all grades and classes of society, men and women, *live*[2] it, however austere

---

1 See "Inscriptions of Śravana Belgola" by Lewis Rice (Bangalore 1889 (I S B) No 41 राद्धान्त वेदि etc

2 I. S. B No. 54 *Cf.* Dayāpāla Muni in whom "was the desire to impart to other son portion of his own form."

the Sadhana or practice for it may have been. The aim of this *Sikṣha*, descipline, and *Dikṣha*, concentration, being to attain to *Arhathood* or *Siddhahood*, not merely *Siddhis* or 'powers', a study of Jaina Antiquities, and appreciation of Śravana Beḷgoḷa culture, which is a type thereof, will show how *real spirituality* and *perfectibility* of life or its sublimation was in Universal practice of all types of adherents of the Jaina Faith in South India. It will also serve, not only as a unifying force not only in the activities of the Jaina community to-day in all India (सर्वभारत), but will also demonstrate, in India and abroad, the essential unity of goal (गम्य) descipline (शिक्षा) and concentration (दीक्षा) of Hindusim, Buddhism and Jainism, fancied and some times operated, as mutually cancelling and warring faiths, unfit to inspire common political action for national ends. In these days when spiritual sublimation of thought and action in politics is set out to be India's special contribution to the modern warring world and recommended to be practised by political workers in India, in all its simple and self-denying austerity, it would indeed be of some help to realise what great levels of practical self-dedication and cultural eminence were reached, even by politicians and statesmen in medieval India, even through the inspiration of the Sages of this great South Indian Spiritual 'University.'

'Śravana Belgoḷa' has a very romantic history From all Jaina accounts in literature and Epigraphs, it was originally 'a bare hill in an uninhabited country,[1] but in time it became a *Thirtha* or place of pilgrimage, a Karmakshētra for *Sikṣha* and *dīkṣha* or a University of piety and culture, and even a religious state' or *Samasthanam*[2] somewhat like the Vatican. Some account of this grand 'sublimation' of mere forbidding earth by the aspiring, advancing and selfpurifying soul of Man will form the substance of this study.

Yet, *Śravana Belgoḷa*, through the ages, has continued to be a *place of Memorial Toumbs*, besides being the abode of several grand beautiful and rich temples and the most famous of ancient sculptures, the wonder and miracle of art,—the sacred image of *Bhujabali* or *Gommatēswara* ortherwise called *Kukkutēswara*. Thus Śravana

1. I. S. B. No. 2 I S. B. No. 141.

Beḷgoḷa culture seems to have made its own distinguished and distinctive contribution to medieval Indian Art and Architecture, the results of the memorialistic activities and devotions of the pilgrims that made it their *Thirtha* not only during life, but even more so, at its close.

Lewis Rice, who first edited the Epigraphs and brought to light the Antiquities of Śravana Beḷgoḷa, in the *Epigraphia Karnatica* thus describes the present appearance of this great *Thirtha* :—

" The eye of the traveller who is passing along the trunk road leading from Bangalore to the Western Coast, through the Manjarabad Ghat, is arrested on approaching Channarayapatna by a conspicuous hill few miles to the South, bearing on its summit what appears at first a column, but which, on drawing nearer, proves to be a colosal statue in the human form. This striking and unusual object, which is visible for miles around, marks the site of one of the most interesting spots in the South of India, and one whose epigraphic records carry us back to the very earliest authentic period of Indian history, anterior in fact even to the famous edicts of Asoka, the oldest inscriptions in the country. This noted place is moreover the chief seat of a religious sect at one time fore most in power and influence, whose origin is of higher antiquity than that of Buddhism."[1]

The earliest inscription on this hill takes the mind of the student to events long anterior to Asoka,—to the happenings in Nothern India, in the time of Asoka's ancestor Chandragupta, the founder of the Maurya Dynasty. This inscription is ascribed rightly, to king Bhaskara, the immediate grandson of the Great Emperor Chandragupta Maurya, who is also said to have adorned it with Chityālayas or temples of worship, as it enshrined the sepulcheres of his own grandfather and that father's guru Bhadrabahu, the last of Jaina Srita Kavalis. As the event that led to this most ancient inscription on this hill is of greater antiquity than the inscription itself and bears witness to some aspects of the religious history of Nothern India before the time of Asoka, it is worth recapitulation. It is also interesting that that event was described in this epigraph

1. I. S. B. No. 1.

in a kind of Sanskrit prose at once literary, realistic, aweful and picturesque. The original passage stands thus* :—

Ārshēnaiva Janapadam-anēka—grāmasata-samkhya-mudita-jana-ghana-kanaka-sasyagō-mahishājavikala-samākīrnam prāptavān atah āchāryyah Prabhāchandrēnāmavani-tala-lalāmabhutē-athāsmin *kata-vapra*-nāmakōpalashitē-vividha-taru-vana-kusuma-dalāvali-vikachana-sabala-vipula-sajala-jalada.. . vyāla-mriga kulōpachitōpatyaka kan-dara darīmaha-guhāgahanā-bhōgavati samuttunga sringa sikharini jīvitasesham alpatra kālam avabudhyādhavnah suchakitah tapassamā-dhim ārādhayitum apricchya niravasēshena samgham visrijya sishyē-naikēna prithulakāstiarnna talāsusilāsu sītalāsu svadēham-sannya-syarādhitavān."*

Lewis Rice translates it thus :—

" And the rishi company arrived at a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats Whereupon. at a mountain with lofty peaks, whose name was Katavapra—an orna-ment to the earth ; the ground around which was variegated with the brilliant hues of the clusters of grey flowers fallen from the beautiful trees ; the rocks on which were dark as the great rain clouds filled with water ; abounding with wild boars, panthers, tigers, bears, hyaenas, serpants and deer ; fitted with caves, caverns, large ravines and forests : the achari, with Prabhachandra also, perceiving that but little time remained for him to live and fearing on account of the road (journey), announced his intention to do the penance before death, and having dismissed the entire sangha, with one single disciple, worshipping, on cold stones covered with grass, quitted his body."*

---

*"आर्षेणैव जनपदमनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनधनकनकसस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णम् प्राप्तवान् अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामवनितलललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामकोपलच्छिते विविधतरुवनकुसुमदलावलीविकचनसबलविपुलसजलजलदनिवहनीलोत्पलतले .. व्यालमृग-कुलोपचितोपत्यककंदरदरीमहागुहागहनाभोगवति समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालम् अवबुद्ध्याध्वनः सुचकितः तपस्समाधिमाराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं सन्न्यस्याराधितवान्"।

We learn from this, how the hill was known in those old times as 'Katavapra' and how it came to be a memorial hill enshrining the remains of the last of the sritakēvalis, Bhadrabāhu, of the Jaina sampradaya. From its also having been the shrine of the remains of Emperor Chandra Gupta, this single disciple of Bhadrabāhu, known in this present epigraph as, Prabhachandra, it came to be visited by King Bhaska Maurya, his grandson, who built chaityalayas over it and a *white lake* in the village at the bottom from which the whole region afterwards came to be known as Beḷgoḷa. Though the most ancient name of this place appears in this earliest inscription as 'Katavapra' there seems to have been another name "Belgugula' by which it became more famous even from the tenth century A. D. From No. 29, we learn that this name '*Katavapra*' survived to the year 1163 A.-C. although found only in one inscription subsequent to the King Bhaskata's inscription about Bhadrabahu and his disciple Chandra Gupta Maurya. There are several associated inscriptions in very archaic Canarese characters (Purvada Hale Kannada) from No. 35 of which it appears to have been known in a partially modified form as "Kalbappira." In later modifictions like Kalvappa (No 34) Kalbapp-(35) Kabbappu-(No. 41) Kabbāhu -(137C), it seems to have been still further modified and simplified according to the phonetic law of 'assimilation,' of course, acting unconsciously in the speech of uncultured people[1]. Students of linguistics familiar with S. I. Epigraphy may discuss whether in the process of these obvious transformations of a word like '*Katavapra*,' we meet with the phenomenon of a phonetic 'curruption' or simplification or 'prakritisation' of a 'sanskrit' word or whether a simple original word like 'Kalbappu' from the Canarese language was transformed by Pandits into Sanskrit '*Katavapra*.' Both processes are possible and do occur in S. I. Inscriptions and literatures. The very words 'Kannada' and 'Karnāta' transformed out of shape by foreigners into 'Canarese' are an instance in point. Be that as it may, the name 'Belugola,' however, seems to have become popular, and accepted into epigraphs by about 982 A.C., although Lewis Rice

1. The references to numbers are to numbers given to inscriptions in the volume "Sravana Belgola Inscriptions" by Lswis Rice. (Bangalore 1889.)

gives instances of two inscriptions, from serangapatam, of 9th century, in which, the form '*Kalbappu*' occurs. However, from the fact that forms the word 'belugola' occur more frequently in inscriptions up to 1196 A. D., in reference to this place, as alternatives to those of 'Katavapra,' it seems to me nothing improper to hold that for at least ten centuries this place has been famous in South Indian history as "Belugola thirtha." Why and when exactly it came to be further specified as "Sravana" Sramana, it is not possible to determine from local antiquities. It is noted that as a Sanskrit word, 'Katavapra' means "having matted sides" The Bhadrabahu inscription shows that it was so known at the time when the Sritakavali stopped over it. Who could have given it a Sanskrit name? There was nothing in the place at that time for any body to visit or notice it. It was only by an accident that that great sage Bhadrabāhu happened to stay away there with his single desciple Prabhāchandra (Chandragupta Maurya) The inscription no doubt makes it clear that the country was abounding in Jaina centres of populous and prosperous *Sravaḳas* or Jaina laity, and they may have given it this name, but only if they had something on or about it to attract them. What I, therefore, feel is that the Hill so came to be known only *after* Bhadrabahu began to settle there on the eve of his *Sallēḳhana* (सल्लेखना) (fasting unto death) and also possibly from the residence of Prabha Chandra further on, worshipping the 'footprints' of his great *guru* and served by the forest deities'. If the word is regarded as *desi* and as 'Kalbappu' or 'Kalbappar' (the form '*Kalbappira*' occurs in No. 35) it may be interpreted as 'Hill Father' or 'Hill-Brahmin' Kall=Hill, +bappu< pāpan=Brahmin or father (+Telugu "bâbu"). The hill on which the sepulcheres of Bhadrabahu and Prabhachandra are enshrined is known as *Chiḳḳa Betta*=Small hill. 'Kal' in Canarese occures in place names in the sense of 'hill' or 'Betta' + Mitta or Métta (Tel.). The famous example is Orumgallu or Warrangal, the seat of a medieval andhra-karnata imperium. It must have come to be so known from the residence of these two great sages, of whom possibly Chandra Gupta or Prabhachandra, living longer than Bhadra-Bahu became more famous as "the Father on the Hill" or

" the Brahmin or sage on the Hill " or " Hill Sage."[1] I should not have entered into this philological bye-path, but for the fact that in most cases of thîrthas or places of pilgrimage in India, it is some great, high a miraculous human striving, sacrifice or achievement in them that has brought them into prominence and illumined them. Even the interpretation of the word *Belugola*, offered only by No. indicates the same thing and confirms my view that it is some miracle of a human achievement or striving that makes its material or casual environment famous for later ages. With many latter day saints or *Sravakas*, male or female, it became a great aspiration to close (mudipu) or dedicate the few remaining days of life in the way in which these great sages did and 'leave-the body' in their company, at the place, which they hallowed by their residence. However, Belgula or Belgola is interpreted in the epigraphs as 'White-lake' and it is said in Jaina traditions that King Bhaskara built the 'White lake' in the village at the bottom of these hills and that he built even the village also and named it Belugola. It is, however, possible that the populace, in these parts, noticing this remarkable object of a 'White-lake,' may have named it in their language, Belugola and the village containing Belugola, came afterwards to be so called. This is quite a common phenomenon in place-names in South India. This origin of the name must have been forgotten by the time of the description (As Res IX 266) interpreting it as '*Silver Vase*,' and the pandits may have exercised their ingenuity afresh to take advantage of an event which they were called in to celebrate with their gifts of learning and poesy. Thus, even the plastic Arts like architecture and sculpture cannot gain immortal self-interpretation without the understanding and calebrating emotion and expression or emotional

---

1. There are a few very archoic. Inscriptions actually refering to these "Sages of or on the Hill" the No 12 has 'Sri Thirtha, guruvadigal, No 19 has 'Sri Betta guruvadigal" Some of these never came down the hill known as 'Sri Vette' or 'Rishigiri' or 'Tirthagiri' or e g, Vide Ins Nos. 21 & 15.

1. See also I.S B. No 12. "मोतोर्थद् गुरवडिगल्"

expression of man And the sublimation of "man," this freeing of him from the earthly limitations and trappings to attain to *Arhathood* or *Jinadva* or his original 'divinity' by *siḳaha* and *diḳsha* has been what was taught and demonstrated from this place, this thirtha, which originally was an uninhabited or uninhabitable secret spot of *Kushmandâranya*. "Kabbappu-nād" was a name for the region in which this hill was lacated. Hence I wonder whether the Chaityalayas and other objects of votive zeal that came to decorate this village and these hills in later ages had not shifted the *emphasis* fromthe *sadhana* and *dîḳsha* i.e., the '*guru-ḳula*' life of the original sages there, to objects of art and architecture and virtualism, so common, in the case of all forms of faith in India, Vedic, Jain, Buddhist and even Islamic. Balugola< >Belugula Belu+kula may also mean the 'white-kula' in which 'Kula' means 'family' or 'group' or 'sect.' Compare the expression '*guru-ḳula*' 'agni-kula,' 'Rāja-kula'. 'White means 'famous' or 'pure'. Hence if the place were originally known as the 'Belgula Betta' it must have meant the Hill of the pure or white sage-company. Or, could it be that, the attendants of King Bhaskara who were 'Swetambaras' had by this way tried to make it peculiarly *their own,* leaving behind a memorial of that fact to later ages in the 'White lake' of the village'? Any way, at the basis of this foundation for culture lies a happy commingling of Nothern and Southern cultural and linguistic trends which has characterised the civilisation of the Karnata region of the Indian peninsula to later times The most remarkable point, however, about Sravana Belgola is that down into the last century, it continued to be not only a thirtha or place of pilgrimage, but a thirtha in the original sense, of a place where 'the soul transcends the body or death' i.e., a memorial or *Sepulctural Hill.* Several persons, males and females, had come there, all through the centuries, to have their final samadhi in presence of those great departed sages of their own faith. There are several such sepulchural thirthas or Mutts in South India, but I do not know or have not read of any places like Belgola which are open to the devotees of their several faiths for this their final "thirtha." Herein also the

foundation has kept up its universality or democracy within its fold. The earliest of such a 'memorialist' mention is No. 2, in old archaic canarese characters and language referring to *Nāgamati Ganti* (female) desciple of the excellent Silent guru of Chittur in Adeyare-nad The earliest in modern Canarese characters and language is No. 72 of 1809 A.C. referring to *Aditakirtti Deva* who "having fully completed a fast of one month, went to Swarga in this cave."

Very early in its history, even during the period of its earliest undated archaic descriptions, Belgola came to be called "Sri tirtha." Now, in South Indian languages, 'thirtha' means 'water' In regard to places of pilgrimage it includes a 'bath' or "immersion" idea also, as in the Kanarese expression "thīrthamādu." It also means 'the sacred water,' from the feet of the sacred images' as in the expression "Sripāda thirtham;" but essentially it means 'transcending' *i.e.*, a mental or spiritual Lightening, purification or 'sublimation.' That such a spiritual 'accession' was intended by the use of the word 'thîrtha' in ancient times is witnessed to, even by the epigraphs from Sravana Belgola. These instances will again show that it is the 'sages' that lived on the Hill that were the *real thirthas* and that the locality was made a 'thirtha' as being their habitat:—

For Example (*i*) of *kamlabhadra* it is said in No. 54 of 1128 A. C. :—

"Smarana-mātra pavitrataman manō bhavati yasya satām iha tirthinām tam ati-nirmalam ātma visuddhaye kamlabhadra-sarōvaramāsraye"

Trans:—"Him by only thinking on whom my mind becomes a thirtha for the good, that pure lake Kamalabhadra (or of suspicious lotuses) do I serve for my own purity." (Lewis Rice.)

(*ii*). Of *Matisagara* it is said in the same inscription *i.e.*, No. 54.

"Tîrtham Sri matisagarō gurur ilā chakram chakāra sphuraj jyōtih pîta tamarpayah pravitatih pūtam prabhūtāsayah."

Trans:—"Sri Matisagara guru made the whole world a tirtha, by his glory dispersing the darkness of ignorance, of a worthy mind, etc." Thus, in inscription after inscription, at Belgola, it occurs again and again, that, to follow those great earliest Jaina sages

Bhadrabāhu and Chandra Gupta, was the true Jaina faith, with clear references to that ancestral migration which some scholars refer to fourth century B.C, that make this high antiquity of Sravana Beḷgola stand undisputed Here-below are a few extracts bearing on this view :—

(i) " Bhadrabāhu-sa-Chandra Gupta-Munindra yugmadin-noppeval
Bhadramāgida dharman valie vand inipal kulo ....
Vidrumādhare Santisēna munisā ˉnākki êchel-go .. X
Adri-mēl asanddi vittu punarbhavakk ir .. ... gi ||

Trans ·—" Saying, to be in accord with the pair sree Bhadrabahu together with the great muni Chandra Gupta, is the true faith :—after coming here, and being gratified the... ..of her race, the coral-lipped wife of Santisena munisa, Echel go-(ravi), on the top of the mountain, forsaking all food, attained to the state of not being born again."

And, likewise, the earliest persons who resorted to this Hill did so *not to worship* but to become 'pure spirits' relieved from and exalted above Samasārachakra, the wheel of life, the cycle of births and deaths, specially by the aweful baptism of *Sallekhana,* " the fast unto death," to enter upon the final pilgrimage or *Mahaprasthana,* to take to the *final smadhi* of one's life. What is called 'Renunciation at the time of danger' or 'atura sanyâsa' is a feature common to various forms or schools of what is called 'Hinduism' or *Vaidika-samaya* but it is found only in Jainism in its most awe.inspiring form as Sallêkhana. That it is a form of life-renunciation' or more properly 'dêhatyâga' 'giving up the body' is even enjoined by the Jaina sastras, is also brought out in one of the epigraphs on this Hill thus :—

Chûrni tēna srimad-Ajitasēna-pandita-dēva-dēvya sri-pada-kamala-madhukarîbhūta-bhāvinā mahanubhavêna Jaināgama-prasiddha-sallêkhanā vidhi Visrjyamāna dēhēna samādhi-vidhi-vilōkanōchita-karana-kutūhala milita-sakala sangha samtôsha-nimittam ātmāntahkarana parinati prakasajāya nirvadyam padyamidamāsu virachitam (No. 54, dated 1128 A. C.)

Trans :—" By him, a bee at the divine lotus feet of Ajitasena Pandita Deva, magnanimous, while abandoning his body, by means of the Sallêkhana famous in the Jaina Agamas, so that all the sangha rejoiced at the sight of the nature of his penance, was delivered improptu this perfect verse, displaying the ripeness of his mind."

Sallêkhana may therefore be described as a special ' ideosyncracy' of Jainism'

The first to perform this aweful rite of Sallēkhana on this Hill, Katavapra, was *Bhadrabahu*, the last of the Sruta kewalis ; this fact bring us directly to the Southern migration of the Jaina rishiganas from Ujjaini in North India and the passage in the inscription referring to the Katavapra Hill. The passage brings out in simple naturalistic description how awefully beautiful it was and suggests a phase of naturalism which has left its environmental mark on the awefully beautiful and simple and high, plain lives and characters of successive Jaina munis, perhaps Vānaprasthas and Sanyasis as well, that carried forward to later generations in South India the traditions of spiritual realisation, sanctified scholarship and desciplined ' sense-conquest' No wonder that their admiring followers had left behind them these authentic data of their admiration and also venerating and exultant praises of Bhadrabahu Sritakevali, who thus rejuvinated South Indian Jainism which, by his time must have lost touch with its North Indian homelands. Here below are given a few specimens of such commendatory compositions, reminders, as it were, to contemporary generations, of that ancestral North Indian migration, corresponding to that of Agastya to ' Chôla mandala ' recorded in Puranic Literature and vernacular classics of South Indian Languages :—

(*a*) Varnnaih kūthan-nu mahimā bhana Bhadrabahor-
mmōhōru-malla-mada-marddana-vritta-bahōh
yach-chhishyatāpta-sukritēna sa chandra-guptas
-susrūshyatē sma suchiram vanadēvatābhih!'

Trans :—" Worthy is it not of being described, the greatness of Bhadrabahu, say,—stout of arm in subduing the pride of

the great wrestler ignorance, through the merit obtained from descipleship to whom, that Chandra Gupta was for a long time served by the forest deities."

(No. 54, dated 1128.)

Note incidentally that this verse identifies that Prabhachandra, who served Bhadrabahu on this Hill in his last days, with Chandra-Gupta, the famous Maurya Emperor known to Indian History. It also brings out the idea of spiritual culture as an affair of 'gnāna,' a struggle and victory, perhaps justifying the name of 'Jaina Samaya,' a 'religion of *conquest*.'

(*b*) Bhadrabahur-agrimah samagrabuddhi sampadā
Suddha Siddha Sāsanam susabda bandha sundaram;
Iddha vritta Siddhir-atra bhadrakarmabhittapô
Vriddhi vardhita prakirtir uddhadhē mahardhikah.

(No. 108 of A. D. 1433.)

Trans:—'Bhadrabahu, the foremost by his acquisition of knowledge, (proclaimed) the doctrine of the siddhis, beautiful with its combination of sweet words; famed for his character, dispeller of the delusions of those bound to the world, celebrated for the growth of his great penance, the highly renowned.'

From all this it is quite clear that, ever since the arrival of Bhadrabahu, this Katavapra Hill in the midst of an aweful forest, became a 'thirtha' associated in the minds of generations of people with dikshas or vows, and concentrations, and with sikshas or desciplines in knowledge and character and sādhanas or self-searching self-purification resulting, by long growth of penance, even in 'siddhis' or attainments. Persons even abandoned the beautiful envirous of nature in the plain beyond the Hill, to take to its top to attain beatification. A very archaic inscription at the place refers to this fact:—

Sri "Udyānaijjita-nandanam dhvanadali-vyāsckta-raktōtpala
vyāpi sribhrita-sālipinij ara disam kritvā tu bahyāchalam

sarva prāni-dayardha-dābhi-Bhagavad-dhyānēna
sambōdnayan-
arādhyāchala mastakē kanaka-sat-sēnod bhavat satpatih"
" aho bahir-girin tyaktva Baladeva munih sriman
ārādhanam pragrihîtva siddha tokam gatar-punah"

(No. 15).

Trans :—" With groves adorned with red water lilies and filled with the hum of bees, surpassing Nandana; shining on every side with fields standing with rice, was it beyond the hill. Instructing all in the praise of Bhagavat, the ocean of goodness to all creatures, worshipping on the summit of the mountain; born to the virtuous kanakasena, was a chief of virtue. Behold, this Bala Deva muni, the honourable, having forsaken beyond the hill, giving himself up to devotion, departed to siddh lôka, did he not?"

Note that this description gives an idea of the approaches to the Hill at a far later time than that of Bhadrabahu, but it is enough to show that that 'ârâdhyachala' or 'gurugini' was still the chiefest attraction in the locality and even that, for Sallēkhana, as well as *Sâdhana.*

A similar cultural 'ideosyncracy' of Jainism is said to be *Ahimsa.* This has come into greater prominence in modern Indian political life, like 'fast into death,' Sallēkhana, most *inappropriately* I think, *as a technique of political struggle* It, however, indicates a modern searching of hearts in India, a quest into the past far desciplines or spiritual processes, leading to 'freedom' or *moksha* from 'bandhana' or 'bondage.' No body can deny that it is a deep spiritual searching, a holy quest, a non-doctrinal, practical, quest, practised in ancient times by persons from different grades of society and even today, practicable to prince in luxury or peasant in poverty alike. But it is well worth making an attempt to understand this Jaina form of descipline of Ahimsa aright.

The Sravana Belgola Epigraphs describe the munis worshipping Bhagavat, there, as 'Srava-prāni-dayarddha-dah (सर्वप्राणिदयार्धं) as those that give their wealth of kindness to all living things, which

makes them careful lest they should per chance injure even a tiny insect. The practice of "Gridhra-pinchacha," one of the most famous of the successors of Bhadrabāhu, in their gana, is followed to this day by the ascetic who sweeps the ground before him with a pea-cocktail broom before he moves along the way. In some of the more enlaborate inscriptions, on the Hill, this famous sage Gridhra-pincha-āchārya is thus celebrated :—

Trans :—(1) "then there was Umāswāti munisvara, who had the name āchārya following after the word Griddhra-pincha In that time no other was equal to him in understanding the 'padartha' (No. 42, dated 1117 A. C.

Trans :—(2) "The honourable Umāswāti, he was the yatisa who published the Tatvartha Sutra which is a guide to the worthy in following the path that leads to *Mukti*" (No. 105 of 1398 A. C.)

Trans :—(3) "He, was he not the yogi devoted to the protection of living creatures who 'assumed' the wings of a kite whence from that time forth the wise call him achari adding to it, after his name Griddhara-Pincha" (No. 108 of 1433 A.C.)

Several other customs among Jainas are traced to this original ideas of 'protection of living creatures' But this is not all of the Jaina idea or desciplme of Ahimsa. In its degeneration into the mere custom of the asctic sweeping before him with a "peacock-broom," it may have become an object of redicule of the Hindus, as an accentricity or 'bhēshajam', but in its essence, it finds its echoes in the Vaidika Samaya as well The religion of Budha is said to be the religion of 'ahimsa' or 'Daya' or 'Compassion' par excellence, but a deeper knowledge of the Jñana marga of the Upanishadas or of the Jaina Samaya will reveal that it is equally an essential element in these equally, if not *more, ancient* faiths or 'schools of Spiritual attainment.' In the saka year 1050 (as stated in

No. 54) Sri Mallishena muni said as follows when he was departing from this world :—

> " Having worshipped the three jewels named in the Agama, having lived so that all living creatures have received no injury and having acquired patience, we have (this) our body at the fact of Jaina and enter Swarga "

To live in such a way that no creature receives injury from one is the essence of the practice of Ahimsa.

Similarly, of another muni *Sritakirti* it is said, that he was ' sarva-sarīti-rakshā-krita-matih ', " intently minded in the protection of all emodied ones". Thus in *Ahimsa-sādhana,* the primary importance is on ' protection of living creatures ' a positive duty. These Sravana Belgola Inscriptions show that several other collateral and positive ideas cluster round this principle of Ahimsa. The most comprehensive of these is idea of ' sakalaprāni-dayartha-siddih ', the utilisation of all our gifts, achievements, equipments and other acquirments for the good and happiness of all creatures. The insistence is on the attainment of powers by the individual *for social* and *environmental betterment* or " Lōkasangraha ". In this view, the following excerpts from these inscriptions illuminating :—

(1) " Having studied the whole Veda, free from all distress of mind, having subdued all opponent speakers, delighting in all learning, filled with highest joy, of lofty and bright intelligence, praising the feet of Jinapa, ··· he had obtained protection for all. (Sritakirti Deva No 105.)

(2) Learned men there are, but no poets, masters of learning, eloquent speakers, experts from researches into various sciences, in the Kali Age like me . .. notwith the desire of gratifying pride, not through enmity, but through my *pity* for the people being led astray by the teaching that there was no spirit (or God), did, I, O king, in the Court of Himasitala overcome all the learned proud Buddhas and spurne sugata with my feet " (Devakalanka Pandita No. 54.)

Patience, kindness, impartiality, disinterestedness, spirituality, and humality, are other aspects of *Ahimsa* which make for social peace and social celebrity. Such qualities are revered, in a sage like *Mallisehna* Of him it is said :—

> " In whom unequalled patience rejoices, in whom kindness knows no limit, whom impartiality loves, whom absence of desire desires, through love loving salvation, though in his own esteem low, yet the head of yogis, by his character an acharya......see Mallishena muni......him let us reverence.'

Honour, liberality, sympathy, are another cluster of ideas grouping round *Ahimsa* as a positive force in active life and these are reverenced in another sage thus .—

> " A fire to the forest of family cares, a sun to the lotus of the Bhavajas (Jains), the summit of uplifted honour, the cow of plenty in restoring wealth, remover of the sorrows of those in the power of the ememies sin and ignorance, is Sritamuni, chief Suri, pure in morals, untarnished by woman "

We find from these and such passages that " purity " or " celebacy " is another aspect of *Ahimsa*, for " impurity " is 'the himsa of Atma or self.'

"JAINA SIDHANTA BHASKARA."

1. (*Gist of September Issue*)

p. 71. Mr. K. P. Jain have shown that the observance of Ahinsā do not deprives a Jain follower of the use of his manly power. Many a illustrations from the Jain Literature and inscriptions are given, showing the chivalrous deeds of the Jain heroes. It was due to disunion and discord between themselves that Indians lost their independence.

p. 78. Pt. K. B. Shastri objects that Vadıbhsingh was a contemporary of Akalanka.

p. 88. A readable note on Apabhraṃs literature is given.

p. 93. Pt. Nemichandra discusses the astronomical definitions of Srī Nemichandrāchārya.

p. 110. Pt. K. B. Shastri describes the antiquities at Kopaṇa.

p. 113. Pt. Parmanānd gives a glimpse of the life and works of Srī Vādirāja.

2. (*Gist of 'Bhāskara' for Dec. 1939.*)

p. 137. Pt. K. B. Shastri discusses the problem of the multi-husbands and the story of Draupadī and concludes that Draupadī was in fact married to Arjun only.

p. 147. Sj. Agarchand Nahta objects the theory of Pāvāgaṛh being originally a Digambara Jain Tīrtha; but the rejoinder of Premīji speaks otherwise.

p. 155. Prof. Hiralal Jain describes the Apabhramsa work "*Aṇuvrata Ratna Pradipa*" by Lakkhana belonging to the 13th century A. D.

p. 178. K. P. Jain has collected and given available information about Girnār and its history.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V—1939.

Edited by

Dr. B. A. Saletore, M.A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CONTENTS.